नबी(सल्ल.) के ज़माने की बहादुर औरतें

माइल ख़ैराबादी

विषय सूची

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

दो शब्द

इस किताब के लेखक जनाब माइल ख़ैराबादी (रह॰) हैं। इस किताब में उन्होंने नौ (9) बहादुर सहाबियात (रज़ि॰) के हालात बयान किए हैं और बताया है कि इन बहादुर औरतों ने अल्लाह का दीन क़बूल करने के बाद उसपर पूरे तौर पर अमल किया और ख़ुदा और रसूल के बताए हुए सीधे रास्ते पर चलने में जो मुश्किलें, जो ख़तरे, जो तकलीफ़ें सामने आईं इन बहादुर औरतों ने पूरी मज़बूती के साथ उनका मुक़ाबला किया और अपनी ज़िन्दगियों से साबित कर दिया कि वे अल्लाह के दीन और उसके रसूल की वफ़ादार हैं और कोई डर और लालच और दिल की कोई ख़ाहिश उनको सीधी और सच्ची राह से हटा देने में कामयाब नहीं हो सकती।

जनाब माइल ख़ैराबादी साहब ने बच्चों, बच्चियों, नौजवानों और औरतों के लिए बहुत-सी किताबें लिखी हैं। वे औरतों और बच्चियों के लिए एक उर्दू माहनामा 'हिजाब' के नाम से रामपुर यू॰पी॰ से निकालते थे और उसके एडीटर की ज़िम्मेदारी वे ख़ुद ही निभाते थे। उन्होंने यह किताब लिखकर हमारी बच्चियों और औरतों के लिए एक ख़ूबसूरत नमूना और आईना पेश किया है। ज़रूरत इस बात की है कि हमारी औरतें इस किताब को पढ़ें, इससे सबक़ और नसीहत हासिल करें और अपनी ज़िन्दगियों में इसकी अच्छी बातों को अपनाएँ।

हमें उम्मीद है कि इस किताब से भरपूर फ़ायदा उठाया जाएगा।

24/05/2017

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली)

हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०)

इनसान के लिए अस्ल में सबसे बड़ी ख़ुशनसीबी की बात यह है कि वह अपने पैदा करनेवाले को पहचाने। उसके एहसानों को माने और फिर तन, मन, धन से उसी का हो जाए। यानी इस्लाम क़बूल कर ले और अपने इस्लाम से ऐसी मुहब्बत करे कि उसके मुक़ाबले में अपनी जानो-माल की परवाह न करे। इसके बाद यह उसके लिए इज़्ज़त की बात है कि जब इस्लाम अपनी मदद के लिए पुकारे तो उसकी हिफ़ाज़त के लिए आगे बढ़े और फिर सबसे बड़ी इज़्ज़त की बात यह है कि इस्लाम को बुलन्द करने के लिए वह ऐसी बहादुरी दिखाए कि अल्लाह उससे ख़ुश हो जाए और इस्लाम के बड़े-बड़े सपूत उसकी बहादुरी पर रश्क करें।

प्यारे नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के साथ रहकर जिन मर्दों और औरतों ने अपनी बहादुरी के जौहर दिखाए, उनमें हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) का स्थान इतना ऊँचा है कि बड़े-बड़े सहाबी उनकी ख़ुशक़िस्मती पर रश्क करते थे। सच्ची बात तो यह है कि जिस हस्ती को अल्लाह के नबी (सल्ल०) की मुबारक ज़बान से ऊँचे दर्जे और इज़्ज़त की सनद मिली हो उसपर रश्क आना ही चाहिए। ऐसी ख़ुशनसीब और मुबारक हस्तियों में जिन मुस्लिम बहादुर महिलाओं के नाम इस्लामी इतिहास में चाँद और सूरज की तरह रौशन हैं, उनमें एक हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) भी हैं। आज हम इन्हीं उम्मे-उमारा (रज़ि०) की इस्लाम से बे-तहाशा मुहब्बत का थोड़ा तज़किरा करेंगे।

हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) अंसारिया हैं यानी मदीना के उस अंसार ख़ानदान से ताल्लुक़ रखती हैं जो ख़ज़रज के नाम से मशहूर है। ये अपने चचेरे भाई ज़ैद-बिन-आसिम से ब्याही थीं जिनसे दो बेटे हुए। उनमें एक का नाम अब्दुल्लाह और दूसरे का नाम हबीब था। ज़ैद के बाद ग़ज़ीया-बिन-अम्र (रज़ि०) से शादी की। इनसे भी दो बेटे हुए। एक तमीम, दूसरे ख़ौला।

हज़रत उम्मे-उमारा के ये चारों बेटे माँ की तरह इस्लाम पर जिस बहादुरी के साथ क़ुरबान हुए, हम यह भी आगे बयान करेंगे।

उम्मे-उमारा का इस्लाम क़बूल करना

तौहीद की घटा तो मक्का पे छा रही थी,
लेकिन ज़मीं मदीना की मुस्करा रही थी।

इस्लाम से मुताल्लिक़ यह हमेशा से देखा जा रहा है कि इस्लाम जहाँ पर उतरा वहाँ के कुछ ही लोगों ने उसके लिए अपने-आपको पेश किया और यह कि इस्लाम की तरफ़ बुलानेवाले को वहाँ से हिजरत ही करनी पड़ी। हज़रत इबराहीम (अलैहि॰) ने इराक़ के मर्कज़ी हिस्से 'उर' में दावत पेश की तो उनको वहाँ से निकलना पड़ा। हज़रत मूसा (अलैहि॰) को इसके लिए मिस्र से निकलना पड़ा और सबसे आख़िर में हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के साथ भी यही पेश आया।

हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की वजह से इस्लामी दावत के कैसे-कैसे बादल मक्का पर छाए, मगर इज्तिमाई तौर पर उन बादलों को बरसने का गौरव मदीना जाकर हासिल हुआ। वाक़िआ यह है कि मक्का में नबी (सल्ल॰) ने इस्लाम के प्रचार के लिए क्या कुछ कोशिशें न कीं, लेकिन कुछ ही लोग इस्लाम के दामन में आ सके। उसी ज़माने में मदीना के कुछ लोगों से आप (सल्ल॰) की मुलाक़ात हो गई। आप (सल्ल॰) ने उनके सामने इस्लाम पेश किया। उन्होंने आप (सल्ल॰) की दावत को क़बूल किया और यह गुज़ारिश की कि हमें इस्लाम का एक ऐसा दाओ (इस्लाम की तरफ़ बुलानेवाला) चाहिए जो मदीना में चलकर इसका प्रचार कर सके। नबी (सल्ल॰) ने हज़रत मुसअब-बिन-उमैर (रज़ि॰) को उनके साथ कर दिया। हज़रत मुसअब-बिन- उमैर (रज़ि॰) ने मदीना पहुँचकर इस्लाम की आवाज़ बुलन्द की तो आगे बढ़कर ईमान लानेवालों में हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) भी थीं। मदीना की औरतों ही में नहीं, बल्कि वहाँ के जिन मर्दों को भी सबसे पहले ईमान लाने का गौरव हासिल हुआ उनमें एक और सिर्फ़ एक यही ख़ातून थीं। इसके बाद जब मदीना के 75 लोग नबी (सल्ल॰) को मदीना

तशरीफ़ लाने की दावत देने चले तो उनमें दो बहादुर महिलाएँ भी थीं, एक उम्मे-उमारा (रज़ि॰) और दूसरी उम्मे-मनीअ (रज़ि॰)। जिस समय ये अल्लाह के बहादुर बन्दे अक़बा की घाटी में पिछले पहर नबी (सल्ल॰) पर जानो-माल क़ुरबान करने की क़सम खा रहे थे और इस्लाम को सारी दुनिया में बुलन्द करने की बेअत ले रहे थे, उस वक़्त उम्मे-उमारा के पति ने अर्ज़ किया—

"ऐ अल्लाह के रसूल! हमारे साथ दो औरतें भी हैं।" यह कहकर उन्होंने दोनों बहादुर औरतों को बुलाया और नबी (सल्ल॰) के सामने पेश किया। नबी (सल्ल॰) ने दोनों औरतों की तरफ़ देखा और फ़रमाया—

"ख़ुदा की क़सम! मैंने जिस अहद पर तुमसे बेअत ली है उसी पर इनसे भी बेअत लेता हूँ।"

यह सुनना था कि नबी (सल्ल॰) के हाथ में हाथ देने के लिए दोनों औरतें आगे बढ़ीं, लेकिन नबी (सल्ल॰) ने उनसे फ़रमाया कि मैं औरतों से हाथ नहीं मिलाया करता। मतलब यह है कि तुम्हारा ज़बान ही से अहद करना काफ़ी है। इन दोनों औरतों ने इस्लाम पर मर-मिटने का अहद किया। फिर इसे किस तरह निभाया? इसके सबूत में उनकी पूरी ज़िन्दगी गवाह है। हम से सिर्फ़ उम्मे-उमारा का अभी हाल सुनिए।

उस ज़माने में मुसलमान होने का यह मतलब न था कि कलिमा पढ़कर और इस्लामी नाम इख़्तियार करके घर में चैन से बैठ रहें और कोई उनसे न पूछे। उस समय मुसलमान होने का अर्थ दुनिया के सारे बनावटी ख़ुदाओं से झगड़ा मोल लेना और दुनिया की हर मुसीबत और आज़माइश को दावत देना था।

मदीना में लोग मुसलमान होने लगे तो मक्कावालों को परेशानी पैदा हुई और उन्होंने मदीना पर धावा बोल दिया। पहली टक्कर में तो बुरी तरह हारे। मगर दूसरी बार बड़े साज़ो-सामान और बड़ी सेना के साथ हमला किया। मदीना से दो-तीन मील दूर उहुद के मैदान में ज़बरदस्त लड़ाई हुई। इस लड़ाई में इस्लाम के अलमबरदार मुसअब-बिन-उमैर (रज़ि॰) और नबी (सल्ल॰) के चचा हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) के शहीद हो जाने से ऐसा नाज़ुक

समय आ गया कि इस्लामी सेना कुछ देर के लिए तितर-बितर हो गई। यहाँ तक कि नबी (सल्ल॰) अकेले रह गए और आप (सल्ल॰) के पास दो या किसी समय दस सिपाही ही पहुँच सके। उस वक़्त जबकि अल्लाह के नबी (सल्ल॰) पर चारों तरफ़ से तीरो-तलवार की बारिश हो रही थी और इस्लाम के बड़े-बड़े बहादुरों का पित्ता पानी हो रहा था, उस समय, जी हाँ उस समय जो दस बहादुर एक के बाद एक आप (सल्ल॰) पर क़ुरबान होने को आगे बढ़े, उनमें एक औरत वे भी थीं, जिन्होंने अक़बा की घाटी में इस्लाम पर क़ुरबान होने का अहद किया था यानी हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰)। उनके साथ और कौन? उनके शौहर हज़रत ग़ज़ीया-बिन-अम्र (रज़ि॰)। और उनके साथ कौन? उनके पहले शौहर के दोनों बेटे हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि॰) और हज़रत हबीब (रज़ि॰)।

इस लड़ाई के मौक़े पर पहले-पहल जब हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) और दूसरे बहादुरों के हमलों से मक्का के ग़ैर-मुस्लिम पस्पा हो रहे थे, उस वक़्त हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) मश्क काँधे पर लादे हुए दौड़-दौड़कर मुजाहिदों को पानी पिला रही थीं। लेकिन जब यह दूसरा मौक़ा आया और नबी (सल्ल॰) की जान ख़तरे में पड़ गई तो उम्मे-उमारा (रज़ि॰) ने मश्क काँधे से उतारकर फेंक दी, तलवार लेकर दुश्मनों पर पिल पड़ीं और लड़ते-लड़ते और बढ़ते-बढ़ते नबी (सल्ल॰) के पास पहुँच गईं और फिर उनका यह हाल था कि जैसे एक शमा के चारों तरफ़ परवाना चक्कर काटता है, उसी तरह नबी (सल्ल॰) के चारों तरफ़ फिर रही थीं और उनकी तलवार बिजली की तरह चमक रही थी। दुश्मन जब बढ़कर नबी (सल्ल॰) पर वार करते तो वे कभी अपनी ढाल पर रोकतीं और कभी तलवार से काटतीं। बहादुर बेटों को समझा दिया था कि जब मैं दुश्मनों का वार रोकूँ तो तुम पीछे से दुश्मनों के घोड़ों की कूचें काट देना। चुनाँचे ऐसा ही होता। इस तदबीर से जब सवार ज़मीन पर गिरता तो माँ-बेटे मिलकर उसका ख़ात्मा कर देते। कभी ऐसा होता कि ख़ुद ही दुश्मन का वार रोकतीं और फिर झपटकर उसके घोड़े पर वार करतीं। ठीक उसी समय नबी (सल्ल॰) उनके बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि॰) को आवाज़ देते। वे झपटकर आते और दुश्मन ज़मीन पर तड़पता होता। इस लड़ाई में

ऐसे ही मौक़े पर एक जियाला दुश्मन इब्ने-क़ुमैया तलवार ख़ींचकर नबी (सल्ल॰) को शहीद करने के लिए आगे बढ़ा। वह अभी पास भी नहीं आया था कि किसी दुश्मन ने नबी (सल्ल॰) पर पत्थर फेंक के मारा जिससे नबी (सल्ल॰) के दो दाँत शहीद हो गए। यह नाज़ुक पहलू देखकर इब्ने-क़ुमैया ने तलवार का वार किया। उसकी तलवार नबी (सल्ल॰) के कवच के हलक़ों पर पड़ी। नतीजा यह हुआ कि हलक़े नबी (सल्ल॰) के गाल में धँस गए और ख़ून बहने लगा। उम्मे-उमारा (रज़ि॰) नबी (सल्ल॰) का यह हाल देखकर बेचैन हो गईं। उन्होंने बढ़कर इब्ने-क़ुमैया को तलवार मारी, मगर वह ज़ालिम दोहरी ज़िरह पहने हुए था उसपर तलवार का असर न हुआ। उसने पलटकर उम्मे-उमारा पर वार किया तो उसकी तलवार उनके कंधे पर पड़ी जिससे गहरा ज़ख़्म आया। बहादुर ख़ातून ने ज़ख़्म की परवाह नहीं की और चाहा कि फिर उसपर तलवार मारें मगर वह भाग खड़ा हुआ। उम्मे-उमारा कंधे के ज़ख़्म की वजह से ख़ून में नहा गईं। नबी (सल्ल॰) ने खड़े होकर अपने सामने ज़ख़्म पर पट्टी बँधवाई। जिन सहाबा (रज़ि॰) ने इस मौक़े पर जान पर खेलकर आप (सल्ल॰) को बचाया था। आप (सल्ल॰) ने उनका नाम लेकर फ़रमाया—

> "ख़ुदा की क़सम! आज उम्मे-उमारा का कारनामा सबके कारनामों से बढ़कर है।"

यह सुनकर हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) ने अर्ज़ किया, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरे लिए दुआ फ़रमाइए कि जन्नत में आपका साथ हो!" आप (सल्ल॰) ने अल्लाह से दुआ की तो हज़रत उम्मे-उमारा पुकार उठीं, "अब मुझे दुनिया की किसी मुसीबत की परवाह नहीं।"

देखा आपने! वह क्या तड़प थी जिस पर अल्लाह के नबी (सल्ल॰) के साथियों ने अपना सबकुछ क़ुरबान कर दिया था? वह थी आख़िरत की कामयाबी, जन्नत की तलब, अल्लाह की रिज़ा। अल्लाह के नबी (सल्ल॰) की ज़बान से उसकी सनद मिल गई तो फिर उम्मे-उमारा (रज़ि) को दुनिया की किसी मुसीबत की परवाह न रही। इसी लड़ाई में जिसमें प्यारे नबी (सल्ल॰) की ज़बाने-मुबारक से ये बातें भी सुनी गईं थीं कि मैं जंगे-उहुद में

अपने दाएँ-बाएँ उम्मे-उमारा ही को लड़ते देखता था, उसी में जब उम्मे-उमारा (रज़ि॰) के सपूत हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि॰) ज़ख़्मी होकर गिर गए तो माँ ने बढ़कर ज़ख़्म पर पट्टी बाँधी और कहा, "उठ बढ़ और दुश्मनों से लड़!" नबी (सल्ल॰) ने यह सुना तो फ़रमाया—

"ऐ उम्मे-उमारा! जितनी ताक़त तुझमें है वह दूसरे में कहाँ!"

अल्लाहु अकबर! हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) ने नबी (सल्ल॰) से जो अहद किया था किस-किस अन्दाज़ से उसे पूरा कर रही थीं। ऐ काश, आज हम और हमारी औरतें सोचें कि हमने भी एक अहद अपने रब से कर रखा है!

आमतौर पर देखा गया है कि किसी मैदान में कारगुज़ारी दिखाते-दिखाते काम का जोश ठण्डा होने लगता है, लेकिन यह भी हक़ीक़त है कि प्यारे नबी (सल्ल॰) के प्यारे साथियों (रज़ि॰) के दिलों में इस्लाम और ईमान की जो आग सुलग रही थी वह ज़माने के साथ रौशन-से-रौशन तर होती गई। हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) की बहादुरी का कारनामा जंगे-उहुद पर ख़त्म नहीं होता। वे हुदैबिया, हुनैन और ख़ैबर जैसे मौक़ों पर भी आगे-आगे रहीं और नबी (सल्ल॰) के दौर के बाद जंगे-यमामा में तो इस तरह लड़ीं कि बड़े-बड़े बहादुरों को हैरत में डाल दिया।

इसका क़िस्सा कुछ इस तरह है कि नबी (सल्ल॰) के बाद यमामावालों में से एक ज़ालिम और ताक़तवर आदमी मुसैलिमा ने नुबूवत का दावा कर दिया। इसके क़बीले के क़रीब 40 हज़ार मर्द उसके पास जमा हो गए। यह ताक़त जमा करके वह ज़बरदस्ती अपनी नुबूवत हर एक से मनवाने लगा। उन्हीं दिनों हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) के अज़ीज़ बेटे हज़रत हबीब (रज़ि॰) ओमान गए हुए थे। वे ओमान से वापस आ रहे थे कि रास्ते में मुसैलिमा के हाथ लग गए। उसने उनको क़ैद करके कहा, "क्या तुम यह गवाही देते हो कि मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के रसूल हैं?" हज़रत हबीब (रज़ि॰) ने जवाब दिया, "हाँ, मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के आख़िरी रसूल हैं।" यह सुनकर वह बोला, "नहीं, तुम यह गवाही दो कि

मुसैलिमा अल्लाह का रसूल है!" हज़रत हबीब (रज़ि०) ने ला-हौल पढ़ी और सख़्ती से इनकार कर दिया तो उसने झुँझलाकर उनका एक हाथ कटवा दिया और बोला, "अब कहो मुसैलिमा अल्लाह का रसूल है!" हज़रत हबीब (रज़ि०) ने फिर ला-हौल पढ़ी और फिर इनकार कर दिया तो उसने दूसरा हाथ कटवा दिया और फिर ज़िद की कि उसे अल्लाह का रसूल कह दे, लेकिन हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) के सपूत ने उसका कहना न माना और अपनी सच्चाई पर अड़े रहे। उसने हर-हर इनकार पर उनका एक-एक उज़्व (अंग) काटते-काटते तिक्का-बोटी कर दिया। इस्लाम के इस सच्चे बहादुर ने अपने जिस्म की बोटी-बोटी कटवा दी, मगर अल्लाह के रास्ते से क़दम न हटाया, वही कहते रहे जो उनका ईमान था।

यह दर्दनाक वाक़िआ हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) ने सुना तो सब्र की सिल छाती पर रखकर दिल में अहद किया कि अगर मुसलमानों ने मुसैलिमा पर हमला किया तो उस ज़ालिम को इन-शाअल्लाह अपनी तलवार से जहन्नम की तरफ़ रवाना करूँगी। चुनाँचे जब हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) ने हज़रत ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि०) को 13,000 सेना के साथ यमामा की तरफ़ भेजा तो हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) ने अपने बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि०) को साथ लिया। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) से इजाज़त ली और उस लश्कर में शरीक हो गईं। यह लश्कर यमामा पहुँचा और झूठे नबी मुसैलिमा से जा टकराया। मुसैलिमा बड़े जोश के साथ लड़ा। इस लड़ाई में बारह सौ मुसलमान और नौ हज़ार मुसैलिमा के आदमी मारे गए।

जंगे-यमामा में हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) ने मुसैलिमा को शुरू ही से ताक रखा था। फिर जब हमला हुआ तो बेटे को इशारा किया और अपनी बरछी और तलवार से सफ़ें चीरती हुई और ज़ख़्म-पर-ज़ख़्म खाती हुई मुसैलिमा की तरफ़ बढ़ीं। उसके आदमियों ने बढ़कर रोकना चाहा। इस कशमकश में ग्यारह बड़े-बड़े ज़ख़्म हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि०) ने खाए। एक हाथ भी कलाई से अलग हो गया लेकिन अल्लाह की इस बहादुर बन्दी ने हिम्मत न हारी। किसी-न-किसी तरह मुसैलिमा कज़्ज़ाब तक पहुँच गईं और चाहती ही थीं कि उसपर वार करें कि एक साथ दो हथियार बिजली बनकर

मुसैलिमा पर गिरे और वह कटकर घोड़े से नीचे ढेर हो गया। हज़रत उम्मे-उमारा ने पलटकर देखा तो अब्दुल्लाह (रज़ि॰) को पास ही खड़ा पाया। पूछा, "बेटे! तूने ही इसे मारा है?" बेटे ने जवाब दिया, "हाँ माँ! इस झूठे पर एक वार मेरी तलवार का था और दूसरा वार वहशी के भाले का, अब मालूम नहीं कि किसके वार से वह ज़ालिम मौत के घाट उतरा।" यह सुना तो उम्मे-उमारा (रज़ि॰) बहुत ख़ुश हुईं और अल्लाह का शुक्र अदा किया।

हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) ने इस लड़ाई में बहुत गहरे ज़ख़्म खाए थे। एक हाथ भी कटकर गिर गया था, इसलिए वे बहुत कमज़ोर हो गई थीं। हज़रत ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि॰) पहले से उनकी बहादुरी के क़ायल थे और दिल से उनकी क़द्र करते थे, उन्होंने बड़ी तवज्जोह से उनका इलाज कराया। अल्लाह का फ़ज़्ल साथ था उम्मे-उमारा (रज़ि॰) अच्छी हो गईं। अच्छी होने पर अल्लाह का शुक्र अदा करने के साथ हज़रत ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि॰) की ख़िदमतों का ऐतराफ़ बड़ी ख़ुशी के साथ करती थीं। उनका बयान है कि ख़ालिद-बिन-वलीद (रज़ि॰) बड़े हमदर्द अफ़सर, बड़ी अच्छी तबिअत के अमीर और बड़ी ख़ातिर करनेवाले सरदार हैं।

ऊपर हमने हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) की बहादुरी के दो वाक़िए बयान किए। दिखाना यह है कि उन्होंने पहले दिन अक़बा की घाटी में हक़ के लिए हर तरह की क़ुरबानी देने का जो अहद किया था, उसे पूरी तरह निभाया। इस बहादुरी और मुजाहिदाना कारनामों से यह न समझना चाहिए कि वे सिर्फ़ बहादुर ही थीं, बल्कि वे नबी-ए-करीम (सल्ल॰) के बताए हुए रास्ते पर इस तरह चल रही थीं कि उनसे अल्लाह ख़ुश हुआ और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ख़ुश हुए। एक मोमिन के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी इज़्ज़त नहीं है। नबी करीम (सल्ल॰) उनकी बड़ी क़द्रो-इज़्ज़त फ़रमाते थे। हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि॰) नबी (सल्ल॰) की वफ़ात के बाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा रहीं। नबी (सल्ल॰) के बाद हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) और उनके बाद हज़रत उमर (रज़ि॰) ने भी उनका बड़ा अदब किया। हज़रत उमर (रज़ि॰) की ख़िलाफ़त के ज़माने में एक बार ग़नीमत का माल आया तो उसमें बहुत क़ीमती कपड़े भी थे। इन कपड़ों में एक कपड़ा बहुत ही ज़्यादा क़ीमती था।

उसपर सुनहरा काम किया हुआ था। हज़रत उमर (रज़ि.) के ज़माने में उनके बेटे अब्दुल्लाह (रज़ि.) के इल्म की बड़ी धूम थी। लोगों ने सिफ़ारिश की कि वह दोपट्टा अब्दुल्लाह (रज़ि.) की बीवी को दे दिया जाए। कुछ लोगों ने यह राय दी कि यह दोपट्टा हज़रत उम्मे-कुलसूम-बिन्ते-अली (रज़ि.) को दे दीजिए जो आपकी बीवी हैं। हज़रत उमर (रज़ि.) ने यह सब सुन तो लिया, लेकिन फ़रमाया कि मैं यह दोपट्टा उसे दूँगा जो इसका सबसे ज़्यादा हक़दार है। इसके बाद दोपट्टा हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि.) को देकर फ़रमाया, "मैंने नबी (सल्ल.) से सुना था कि जंगे-उहुद के दिन मैं जिधर देखता था उम्मे-उमारा ही लड़ती नज़र आ रही थीं।"

हज़रत उम्मे-उमारा (रज़ि.) सारी ज़िन्दगी बड़ी सख़्ती से इस्लाम पर क़ायम रहीं। जंगे-यमामा के बाद वफ़ात हुई। तमाम सहाबा (रज़ि.) और दूसरे मुसलमानों ने उनके लिए दुआ की और ग़म मनाया। अल्लाह हमें तौफ़ीक़ अता फ़रमाए कि हम उनके नक़्शे-क़दम पर चल सकें और इसी तरह अल्लाह से किए गए अहद को पूरा करने की कोशिश करें जिस तरह हमारे असलाफ़ (बुज़ुर्गों) ने इस अहद को पूरा किया!

हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰)

दुनिया में अनगिनत ऐसे बुज़ुर्ग गुज़रे हैं और आज भी हैं जिनकी नेकी और बुज़ुर्गी की क़सम खाई जा सकती है। बेशुमार ऐसे हिम्मतवाले बहादुर पहलवान हुए हैं और आज भी हैं जिनकी बहादुरी और हिम्मत के झंडे गड़े हैं। अनगिनत ऐसी पाकबाज़ और दिलवाली हस्तियाँ हो चुकी हैं और आज भी हैं कि अगर वे दामन निचोड़ दें तो फ़रिश्ते वुज़ू करें। और न जाने कितने अल्लाह के बन्दे ऐसे रहे होंगे और आज भी हैं जिन्हें सब्र और हिम्मत का पहाड़ कहा जाए तो ग़लत न होगा। लेकिन उन्हीं ख़ुशनसीबों में ज़्यादातर बुज़ुर्ग ऐसे मिलेंगे जो अपनी जगह निहायत नेक, बहादुर, पाक-साफ़ और एक हद तक सब्र और शुक्र करनेवाले थे और आज भी हैं। लेकिन कोई अपने भाई की नालायक़ी से परेशान नज़र आएगा, कोई अपनी औलाद की ग़लत हरकतों से फ़िक्रमन्द दिखाई देगा, कोई अपनी बहु से परेशान होगा और कोई अपने पोतों के करतूतों को रो रहा होगा। हमने बड़ी मेहनत से उन हस्तियों में एक ऐसे ख़ुशनसीब को तलाश करना शुरू किया जो अपनी जगह नेक भी हो, बहादुर भी हो, पाकबाज़ भी हो, सब्र-शुक्र की चट्टान भी हो और उसका भाई भी ऐसा हो, बेटा भी ऐसा ही हो और पोतों की तरफ़ से भी उसे पूरा इत्मीनान हो। तारीख़ के पन्ने उलटते-उलटते हम परेशान हो गए। हम तक़रीबन मायूस हो गए थे कि हमें एक और सिर्फ़ एक हस्ती ऐसी मिली। हम इन लाइनों के पढ़नेवालों से उस मुबारक हस्ती का परिचय कराते हैं और अपने पढ़नेवालों से दरख़ास्त करते हैं कि इस हस्ती के अलावा किसी की नज़र में कोई दूसरा हो तो वह हमारी जानकारी में इज़ाफ़ा करे।

हमारी नज़र में वह मुबारक हस्ती नबी-ए-करीम (सल्ल॰) की फूफी हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) हैं। बड़ी बहादुर और सब्रो-शुक्र करनेवाली। उनके भाई का नाम सुनिए, उनके सगे भाई हैं नबी (सल्ल॰) के अज़ीज़ चचा और

इस्लाम के बहादुरों में सबसे पहले बहादुर, शहीदों के सरदार, हज़रत हमज़ा (रज़ि.)। जिनकी बहादुरी पर स्वयं प्यारे नबी (सल्ल.) को नाज़ था और जिनकी तलवार के कारनामे बद्र और उहुद की लड़ाई देखनेवालों ने देखे थे और अरब के बहादुर उनकी हिम्मत और बहादुरी का लोहा मानते थे।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के बेटे थे हज़रत ज़ुबैर (रज़ि.) अल्लाह के आख़िरी रसूल (सल्ल.) के ख़ास साथी जिनकी सारी ज़िन्दगी हिम्मत और बहादुरी का नमूना थी और जिन्होंने अपनी बहादुरी और जाँबाज़ी की वजह से हवारी-ए-रसूल का लक़ब नबी (सल्ल.) की मुबारक ज़बान से पाया। ये वही ज़ुबैर (रज़ि.) हैं जिनका दुश्मन उन्हें उस वक़्त शहीद कर सका जबकि वे अपने रब के आगे सजदे में पड़े थे। वैसे आँख मिलाने की हिम्मत उसे भी नहीं हुई।

अब देखिए हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के घर में बहू आती हैं। ये बहू वे बुज़ुर्ग और बहादुर ख़ातून हैं जिनका नाम तारीख़ की किताबों में सुनहरे हरफ़ों में लिखा है। ये बहू सब्र और शुक्र का वे नमूना हैं जो अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के यारे-ग़ार हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) के घर में ढाली और पाली गईं और फिर इन्हें ही हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) की बहू होने का शर्फ़ हासिल हुआ। इनका नाम है हज़रत असमा (रज़ि.), जिनका बचपन, जिनकी जवानी और जिनका बुढ़ापा सब हिम्मतो-बहादुरी और सब्रो-शुक्र का नमूना रहा। ख़ासतौर पर इनके बुढ़ापे का वह वाक़िआ जो उनके बेटे हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) की शहादत के सिलसिले में पेश आया और फिर उस वक़्त के सबसे बड़े ज़ालिम आदमी 'हज्जाज' से जिस हिम्मत के साथ तुर्की-ब-तुर्की बेलाग बात की, वह इन्हीं का हिस्सा था।

यही अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के पोते थे जो जिहाद के मैदान में 'जिन्न' कहे जाते थे। दूसरे पोते हज़रत मुसअब-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) अपने वक़्त के तीन बड़े बहादुरों में गिने जाते थे। इनके अलावा उरवा-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) और हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के दूसरे पोते भी एक से बढ़कर एक थे।

ग़ौर कीजिए, कैसी ठण्डी होती होंगी हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) की वे आँखें जो एक तरफ़ हज़रत हमज़ा (रज़ि.) जैसे भाई को, दूसरी तरफ़ ज़ुबैर (रज़ि.) जैसे सपूत को, तीसरी तरफ़ असमा (रज़ि.) जैसी बहु को और फिर अपने चारों तरफ़ अब्दुल्लाह, मुसअब और उरवा (रज़ि.) जैसे पोतों को देखती होंगी। वाक़ई उनका दिल अल्लाह के शुक्र और एहसान से भर जाता होगा। हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) का यह मक़ाम इतना ऊँचा है कि इस ऊँचे मक़ाम पर हम उन्हें अकेला ही पा रहे हैं। यह अल्लाह का फ़ज़्ल है जिसे चाहता है देता है।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के इस परिचय के बाद अब हम उनकी हिम्मत और बहादुरी का एक वाक़िआ नक़ल करेंगे और एक वाक़िआ उनके सब्र और हिम्मत का भी लिखेंगे।

ख़न्दक़ की लड़ाई का वाक़िआ है। प्यारे नबी (सल्ल.) दुश्मनों को रोकने के लिए इस्लामी लश्कर को लेकर उनके मुक़ाबले पर जा डटे। यहाँ औरतों को मशहूर शायर हज़रत हस्सान-बिन-साबित (रज़ि.) की निगरानी में एक क़िले के अन्दर ठहरा दिया था। हज़रत हस्सान (रज़ि.) के अलावा क़िले में कोई दूसरा मर्द न था। हज़रत हस्सान-बिन-साबित (रज़ि.) मुस्तक़िल तौर पर (शायद) रोगी थे, इसलिए लड़ाई-भड़ाई के नाम से घबरा जाते थे। मालूम नहीं कि दुश्मनों को पता चल गया या पता लगाना ही मक़सूद था, एक यहूदी सिपाही क़िले के पास सुन-गुन लेने आया। उसका ख़याल यह था कि अगर वाक़ई क़िले में औरतें-ही-औरतें हैं तो हमला कर दिया जाए और मुसलमानों को दोहरी मुसीबत में डाल दिया जाए। हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) ने उस आदमी को देख लिया और भाँप भी लिया कि वह किस इरादे से आया है। उन्होंने हज़रत हस्सान (रज़ि.) से कहा कि जाकर उसे क़त्ल कर दें। हज़रत हस्सान (रज़ि.) ने कानों पर हाथ रखा और जवाब दिया कि अगर मैं इस क़ाबिल होता तो अल्लाह के रसूल (सल्ल.) मुझे औरतों में क्यों छोड़ जाते? हज़रत हस्सान (रज़ि.) से यह सुना तो हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) ने दुश्मन को ख़ुद ही क़त्ल करने का इरादा किया। ख़ैमे की एक लकड़ी उखाड़ी और इतनी जल्दी पहुँचकर उसके सर पर दे मारी कि दुश्मन ख़बरदार भी न हो सका और वहीं

ढेर हो गया। उसे गिराकर हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) ने हज़रत हस्सान (रज़ि.) से कहा, "अच्छा अब जाओ उस यहूदी का सिर काट लाओ!" हज़रत हस्सान (रज़ि.) ने अब भी वही जवाब दिया। आख़िर हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) ने ही सिर काटा और क़िले के बाहर दुश्मनों की तरफ़ फेंक दिया। अपने जासूस का सिर देखकर दुश्मनों ने समझ लिया कि क़िले में बहादुर मर्दों की अच्छी ख़ासी तादाद है और उधर हमला करना ख़तरे से ख़ाली नहीं। चुनाँचे हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) की इस बहादुरी और हिम्मत की वजह से सब मुसलमान औरतें महफ़ूज़ रहीं।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) की बहादुरी का सिर्फ़ एक ही वाक़िआ नहीं है। हमने सिर्फ़ नमूने के तौर पर इसे पेश किया है वरना हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) नबी (सल्ल.) के साथ अक्सर लड़ाइयों में शरीक रही हैं।

उहुद की लड़ाई में हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) के बहादुर और प्यारे भाई, इस्लाम की ताक़त हज़रत हमज़ा (रज़ि.) शहीद हो गए। दुश्मनों ने उनकी लाश के साथ बड़ी बेदर्दी का बरताव किया। एक औरत हिन्दा ने लाश के कान, नाक वग़ैरह काटकर हार बनाया और सीना चीरकर कलेजा निकाला और चबा डाला। शहीदों के सरदार की लाश देखकर बड़े-बड़ों के दिल दहल गए। अल्लाह के नबी (सल्ल.) से बढ़कर साबिर और शाकिर कौन हो सकता है? आप (सल्ल.) ने क़सम खाई कि एक हमज़ा का बदला सत्तर इस्लाम दुश्मनों से लूँगा। लेकिन अल्लाह ने इस क़सम को पूरा करने से रोका। नबी (सल्ल.) ने क़सम का कफ़्फ़ारा अदा किया और इस्लाम के बहादुर सिपाही और अपने अज़ीज़ चचा हज़रत हमज़ा की मौत पर सब्र किया।

हज़रत हमज़ा (रज़ि.) अरब के नामी पहलवानों में से एक थे। दोस्त और दुश्मन सब उनकी बहादुरी के क़ायल थे। सबके दिलों पर उनकी बहादुरी का रौब तो था ही साथ-ही-साथ लोग उनकी इज़्ज़त भी करते थे, फिर भला एक बहादुर बहन (हज़रत सफ़ीया रज़ि.) के बारे में सोचिए वे अपने बहादुर और इस्लाम पर फ़िदा होनेवाले भाई को कितना चाहती होंगी? हक़ीक़त यह है कि वे अपने भाई की आशिक़ थीं। उन्होंने सुना कि हज़रत हमज़ा (रज़ि.) शहीद हो गए और काफ़िरों ने उनकी लाश को कुचल डाला

है तो देखने चलीं। जिस वक़्त वे जंग के मैदान में पहुँची उस वक़्त इस्लाम के दुश्मनों का दबाव इस्लामी लश्कर पर इतना ज़्यादा था कि उन्होंने सारे मुसलमानों को तितर-बितर कर दिया था। मुसलमान पीछे क़दम हटाने पर मजबूर हो गए थे। हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) ने यह हालत देखी तो नेज़ा (भाला) हाथ में लिया, जिस मुसलमान को देखा कि पीछे मुड़कर भाग रहा है, उसके पास पहुँचकर उसे नेज़े की छड़ मारी, रोका और गुस्सा होकर बोलीं, "अफ़सोस है, अल्लाह के रसूल का साथ छोड़कर भागे जा रहे हो!"

इस्लाम-दुश्मन मुसलमानों पर बुरी तरह पिले पड़े थे और हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) मुसलमानों पर बुरी तरह बरस रही थीं। उनको प्यारे नबी (सल्ल॰) ने देख लिया। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) से फ़रमाया, "तुम्हारी माँ अपने भाई की लाश के पास जा रही हैं। देखो, वे हमज़ा (रज़ि॰) की लाश हरगिज़ न देखने पाएँ!" प्यारे नबी (सल्ल॰) का ख़याल यह था कि हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की लाश की हालत बेहद ख़राब है। कोई आँखोंवाला लाश की दर्दनाक हालत देखकर सब्र न कर सकेगा। फिर भला बहन से किस तरह देखा जाएगा। उनसे ज़रूर बेसब्री का मुज़ाहरा होगा और फिर सारे लश्कर में कोहराम मच जाएगा।

प्यारे नबी (सल्ल॰) के इस इरशाद के मुताबिक़ हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) माँ के पास पहुँचे और कहा, "अम्मा-जान! नबी करीम (सल्ल॰) का हुक्म है कि आप वापस तशरीफ़ ले जाएँ।"

हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) बड़ी नेक, समझदार और ज़हीन औरत थीं। वे नबी (सल्ल॰) के हुक्म की वजह समझ गईं। जवाब में कहा, "क्यों? मुझे मालूम हो चुका है कि मेरे भाई की लाश को कुचला गया है। ख़ुदा जानता है कि यह बात मेरे लिए नाक़ाबिले-बरदाश्त और नापसन्द है लेकिन मैं सब्र करूँगी और अल्लाह ने चाहा तो ज़ब्त से काम लूँगी।"

हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) ने माँ का पैग़ाम नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में पहुँचाया। आप (सल्ल॰) ने इजाज़त दे दी। अब आशिक़ज़ादी बहन भाई की लाश के पास पहुँचीं। देखनेवाले हैरान थे कि हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) कहाँ

से वह दिल और आँखें लाएँगी और इस भायानक मंज़र को देख सकेंगी? मगर देखनेवालों ने देखा कि सब्र की एक चट्टान सरकती हुई हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की लाश के पास पहुँची, रुकी फिर इस चट्टान से आवाज़ आई 'इन्ना लिल्लाहि व इन्ना इलैहि राजिऊन' और फिर बड़ी ख़ामोशी से वापस हो गई।

वापसी पर हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) ने हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) को दो चादरें दीं कि कफ़न के काम में लाएँ। लेकिन हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की लाश के पास एक अंसारी की लाश भी पड़ी थी। एक चादर उस लाश को दे दी गई और दूसरी शहीदों के सरदार को मिली।

हज़रत सफ़ीया (रज़ि॰) बहुत अच्छी शायरा थीं। भाई के ग़म में उन्होंने सब्र की सिल छाती पर तो रख ली लेकिन इससे उनके दिलो-दिमाग़ में भाई की मुहब्बत का एक तूफ़ान पैदा हो गया। यह तूफ़ान एक मरसिया बनकर ज़ाहिर हुआ, लेकिन इसमें कोई ऐसी बात नहीं, जिससे बेसब्री और नाशुक्री का पता चलता हो। इसमें हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की सख़ावत और बहादुरी का ऐतराफ़ है। आख़िर में हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की शहादत से इस्लाम को, मुसलमानों को, प्यारे नबी (सल्ल॰) को जो सदमा पहुँचा उसे नज़्म की शक्ल में तरतीब दिया है। इस मरसिए में नबी (सल्ल॰) को मुख़ातब करके फ़रमाया—

"ऐ अल्लाह के रसूल! आज आपपर वह दिन आया है जिसमें सूरज सियाह हो गया, हालाँकि इससे पहले वह रौशन था।"

हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) बड़े दानी थे। इसका बयान एक अनोखे जुमले में किया। फ़रमाया, "वह ऐसा दानी था कि मरने पर भी उसकी सख़ावत जारी रही। उसकी लाश के लिए दो कफ़न लाए गए, लेकिन उसने एक अपने पड़ोसी को दे दिया।"

पड़ोसी का इशारा शहीद अंसारी की लाश की तरफ़ है। जिन लोगों ने यह सुना, ऐतराफ़ किया कि सच्चाई और फ़साहत के ऐतिबार से यह मरसिया अपनी मिसाल आप है।

हज़रत उम्मे-सुलैम-बिन्ते-मिलहान (रज़ि॰)

प्यारे नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

"मैं जन्नत में गया तो मुझे आहट मालूम हुई। मैंने पूछा कौन है? बताया गया, 'रुमैसा-बिन्ते-मिलहान' (रज़ि॰)।" (हदीस : मुस्लिम)

हदीस के लफ़्ज़ों को फिर पढ़िए, देखिए कितने प्यारे और मीठे अन्दाज़ में एक ख़ुशक़िस्मत ख़ातून को जन्नती होने की ख़ुशख़बरी सुनाई जा रही है। ये ख़ातून जिनका नाम हदीस में रुमैसा आया है अस्ल में वही मशहूर सहाबिया हैं जिनको तारीख़ 'उम्मे-सुलैम' (रज़ि॰) के नाम से पुकारती है। ये मदीना के अंसार ख़ानदान बनू-नज्जार से थीं। क्या ख़याल है, क्या अंसार ख़ानदान की इस क़ाबिले-रश्क ख़ातून को यह बशारत ऐसे ही मिल गई, जबकि हमें मालूम है कि जन्नत तरह-तरह की सख़्तियों से ढाँक दी गई है?[1]

नहीं! हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ने जन्नत हासिल करने के लिए सख़्तियों का बड़ी साबित-क़दमी से मुक़ाबला किया। वे जन्नत की राह की सारी रुकावटों को दूर करने में कामयाब हुईं। वाक़िआ यह है कि उनपर अल्लाह का यह बड़ा फ़ज़्ल था। वे एक बेहतरीन मुसलमान, एक बेहतरीन माँ, एक बेहतरीन बीवी, इस्लाम पर फ़िदा होनेवाली, रसूल की मुहब्बत में डूबी हुई, बड़ी ज़हीन, साबिरो-शाकिर और बहुत-सी ख़ूबियोंवाली ख़ातून थीं। उनकी फ़ज़ीलतों का ज़िक्र हदीस की किताबों में भी है और तारीख़ ने भी उनके कारनामों की एक लम्बी सूची छोड़ी है। यहाँ कुछ वाक़िआत मुख़्तसर तौर पर बयान किए जा रहे हैं। उम्मीद है कि जो पढ़ेगा, उसके ईमान में मज़बूती और उसके इस्लाम में जमाव पैदा होगा।

---

1. हदीस में आया है कि दोज़ख़ बड़ी-बड़ी ख़ाहिशों से ढाँक दी गई है और जन्नत बड़ी बड़ी सख़्तियों से ढाँक दी गई है।

ख़ानदान

उनका प्यारे नबी (सल्ल॰) से ऐसा ख़ानदानी ताल्लुक़ है जिसका ज़िक्र बड़ा दिलचस्प है।

वाक़िआ कुछ इस तरह है कि हाशिमी ख़ानदान के बुज़ुर्ग जनाब हाशिम एक बार तिजारत के मक़सद से शाम (सीरिया) गए। रास्ते में मदीना पड़ता था। हाशिम मदीना में ठहर गए। वहाँ हर साल बाज़ार लगता था। बाज़ार में गए तो एक औरत को देखा। शक्लो-सूरत और चाल-ढाल से शरीफ़ और समझदार मालूम हुई। हसीनो-जमील भी थी। हाशिम ने लोगों से उसके बारे में पूछा। मालूम हुआ बनू-नज्जार से है और सलमा नाम है। उन्होंने उसे शादी का पैग़ाम दिया। सलमा ने मंज़ूर कर लिया। शादी हो गई। हाशिम कुछ दिन मदीना में ठहरकर शाम (सीरिया) चले गए और वहीं इन्तिक़ाल हो गया। यहाँ मदीना में सलमा से एक बेटा हुआ। उसका नाम 'शैबा' रखा गया। शैबा आठ साल का हुआ तो उसका हाल हाशिम के भाई 'मुत्तलिब' को मालूम हुआ। वे मदीना गए। भतीजे की तलाश की। लोगों से पूछा। सलमा ने उनके आने का हाल सुना तो बुला भेजा। मुत्तलिब को तीन दिन मेहमान रखा। चौथे दिन शौहर की अमानत उनके भाई को सौंप दी। मुत्तलिब शैबा को लेकर मक्का वापस आए। यहाँ आकर शैबा का नाम अब्दुल-मुत्तलिब पड़ गया और यही नाम मशहूर हो गया। यही अब्दुल-मुत्तलिब नबी (सल्ल॰) के दादा थे। इन्हीं अब्दुल-मुत्तलिब की माँ सलमा ने मदीना के एक बड़े आदमी ज़ैद से शादी कर ली। ये ज़ैद उम्मे-सुलैम के परदादा थे। इस दिलचस्प रिश्ते से उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) नबी (सल्ल॰) की ख़ाला मशहूर हुईं।

उम्मे-सुलैम का इस्लाम क़बूल करना

अंसार में से जिन बुज़ुर्गों ने इस्लाम क़बूल करने में पहल की, उनमें हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) भी हैं। उनके इस्लाम क़बूल करने पर उनके शौहर मालिक-बिन-नज़्र को बड़ा दुख हुआ। वे मुशरिक ही रहे। अल्लाह ने उन्हें एक बच्चा भी दिया था। उम्मे-सुलैम बच्चे को हर रोज़ कलिमा पढ़ना

सिखातीं तो मालिक-बिन-नज्र भी सुनते। वे नाराज़ होकर कहते कि तुम मेरे बच्चे को भी बेदीन किए देती हो। वे नाराज़ होकर शाम (सीरिया) चले गए। शाम में उनका एक दुश्मन था। उसने मौक़ा पाकर उनको क़त्ल कर दिया।

हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि.) शक्लो-सूरत और अक़्ल के ऐतिबार से मदीना-भर में मशहूर थीं। उनके बेवा होते ही शादी के पैग़ाम आने लगे। लेकिन उन्होंने फ़िलहाल यह कहकर शादी करने से इनकार कर दिया कि "जब तक मेरा बच्चा (अनस) मजलिसों में उठने-बैठने और बात करने के लायक़ न हो जाएगा, उस वक़्त तक शादी न करूँगी।

हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि.) को बड़ी फ़िक्र थी कि उनके बच्चे की तरबियत अच्छी-से-अच्छी हो। वह इस्लाम का चलता-फिरता नमूना बनकर उठे। इसलिए वे उसको हर वक़्त नेकियों पर उभारतीं और इस्लाम का अक़ीदा सिखाती रहती थीं। उनकी ख़ाहिश थी कि बच्चा बड़ा होकर इस्लाम के तक़ाज़ों को खुले दिल से पूरा करे।

नबी (सल्ल.) हिजरत करके मदीना तशरीफ़ ले गए और समझदार उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने मौक़ा पाकर अनस (रज़ि.) के लिए नबी (सल्ल.) की ख़िदमत में रहने की दरख़ास्त पेश कर दी। नबी (सल्ल.) ने बड़ी ख़ुशी से अनस (रज़ि.) को अपने पास रख लिया और अब जो बच्चा अंसार ख़ानदान की एक औरत के पास पल रहा था, वही बच्चा अल्लाह के आख़िरी रसूल (सल्ल.) की ख़िदमत में तरबियत पाने लगा। अनस (रज़ि.) की उम्र उस वक़्त आठ साल थी। यही अनस वे हज़रत अनस (रज़ि.) हैं जो बहुत-सी हदीसों के मशहूर रावी हैं और जिनको नबी (सल्ल.) ने दोनों जहान में कामयाबी की बार-बार दुआएँ दीं। हज़रत अनस (रज़ि.) बड़े होकर फ़रमाया करते थे, "अल्लाह मेरी माँ को अच्छा अज्र दे, उन्होंने मुझे ख़ूब ही पाला!"

हज़रत अनस (रज़ि.) माँ के इस एहसान को कभी न भूले कि उन्होंने उनको नबी (सल्ल.) की ख़िदमत में दे दिया था। हक़ीक़त यह है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल.) की ग़ुलामी से बढ़कर और क्या इज़्ज़त हो सकती है।

उम्मे-सुलैम (रज़ि.) अब भी बच्चे की देखभाल में कमी न करतीं। एक

बार नबी (सल्ल.) ने हज़रत अनस (रज़ि.) को किसी काम से कहीं भेजा और कहा किसी को न बताना। इस काम में हज़रत अनस (रज़ि.) को देर हो गई। लौटे तो उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने वजह पूछी। जवाब दिया कि नबी (सल्ल.) का एक काम था और वह एक राज़ है जो मैं हरगिज़ न बताऊँगा। उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने बेटे से यह सुना तो शाबाशी दी और कहा, "हरगिज़ न बताना, किसी से न कहना यह नबी का राज़ है!"

इस्लाम की तब्लीग़ और दूसरी शादी

हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि.) एक जोशीली औरत थीं और बड़ी समझदार भी। इसलिए वे जहाँ मौक़ा पातीं इस्लाम की तब्लीग़ बड़े सुलझे तरीक़े से करतीं। तब्लीग़ के जोश में वे अपने क़बीले के मर्दों, औरतों और बच्चों में ज़्यादा काम करती थीं। जब हज़रत अनस (रज़ि.) प्यारे नबी (सल्ल.) की ख़िदमत में रहने लगे तो अब हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि.) की दावती सरगर्मियों में और ज़्यादा इज़ाफ़ा हो गया। दिल को हज़रत अनस (रज़ि.) की तरबियत की तरफ़ से इत्मीनान हो गया था, इसलिए उनके क़बीले के एक आदमी अबू-तलहा (रज़ि.) ने, जो अभी मुशरिक थे, शादी का पैग़ाम दिया। उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने बड़े हकीमाना अन्दाज़ में अबू-तलहा (रज़ि.) के पैग़ाम को रद्द कर दिया और कहा, "अबू-तलहा! मैं तो मुहम्मद (सल्ल.) पर ईमान लाई हूँ और गवाही देती हूँ कि वे अल्लाह के रसूल हैं, ताज्जुब है तुम जैसा समझदार आदमी ने इस्लाम क़बूल नहीं किया! बड़े अफ़सोस की बात है कि तुम लकड़ी और पत्थर को पूजते हो! उनके बुत बनाते हो! ये बेजान बुत तुमको क्या फ़ायदा या नुक़सान पहुँचा सकते हैं तुमको सोचना चाहिए और तुम्हें यह भी ग़ौर करना चाहिए कि मैं मुसलमान एक मुशरिक से किस तरह शादी कर सकती हूँ!

अबू-तलहा (रज़ि.) ख़ुशक़िस्मत आदमी थे। उम्मे-सुलैम (रज़ि.) की नसीहत ने उनपर असर किया। उन्होंने उनकी बातों पर ग़ौर किया। बात सच्ची थी, समझ में आ गई। तीसरे-चौथे दिन आकर उम्मे-सुलैम (रज़ि.) के हाथ पर मुसलमान हो गए। उनके मुसलमान होने से उम्मे-सुलैम (रज़ि.) को बड़ी ख़ुशी हुई। अबू-तलहा (रज़ि.) बड़े ग़रीब आदमी थे। उम्मे-सुलैम

(रज़ि.) ने उनकी ग़रीबी की परवाह न की और अब उनसे निकाह करने को राज़ी हो गईं। अबू-तलहा (रज़ि.) के पास महर के लिए रक़म भी न थी। उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने जवाब दिया, "कोई बात नहीं। मैं तुमसे निकाह करती हूँ और तुम से इस्लाम के सिवा कोई महर नहीं लेती।" अबू-तलहा (रज़ि.) से उनका यह निकाह हज़रत अनस (रज़ि.) के एहतेमाम से हुआ।

ममता और सब्र

हज़रत अनस (रज़ि.) के सिलसिले में यह बात साफ़ हो गई कि उम्मे-सुलैम (रज़ि.) को उनसे बहुत मुहब्बत थी। अबू-तलहा (रज़ि.) से भी उनको एक बेटा पैदा हुआ। उस बच्चे का नाम अबू-उमैर था। अबू-उमैर भी बड़ा प्यारा बच्चा था। नबी (सल्ल.) भी उस बच्चे को प्यार करते और उससे खेला करते थे। उस बच्चे का इन्तिक़ाल हुआ तो लोगों ने उम्मे-सुलैम (रज़ि.) के सब्र और इत्मीनान का बड़ा अजीब नमूना देखा।

जब अबू-उमैर क़ा इन्तिक़ाल हुआ तो उस वक़्त अबू-तलहा (रज़ि.) घर में न थे। उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने बच्चे की मय्यित को बड़े सब्र और इत्मीनान से नहलाया और कफ़नाकर एक तरफ़ रख दिया और लोगों को मना कर दिया कि अबू-तलहा आएँ तो उन्हें बताया न जाए। अबू-तलहा (रज़ि.) शाम को घर आए। बच्चे का हाल पूछा तो वे बोलीं, "जिस हाल में तुमने देखा है उससे हज़ार दरजे बेहतर है..." पूछा, "कहाँ है...?" जवाब दिया, "बड़े आराम की नींद सो रहा है।" इसके बाद उम्मे-सुलैम (रज़ि.) ने शौहर को बड़े इत्मीनान के साथ खाना खिलाया, बिठाया, बातें करने लगीं। बातें करते-करते अबू-तलहा (रज़ि.) से एक सवाल कर बैठीं। पूछा, "अबू-तलहा! अगर किसी को कोई चीज़ अमानत के तौर पर दी जाए और वह उससे फिर ले ली जाए तो उस आदमी को बुरा तो नहीं लगना चाहिए?" अबू-तलहा (रज़ि.) ने जवाब दिया, "जिसकी अमानत हो उसे ख़ुशी-ख़ुशी वापस कर देना चाहिए।"

अब उम्मे-सुलैम (रज़ि.) बोलीं, "अच्छा तो तुम्हारा लड़का भी अल्लाह की अमानत था जिसे अल्लाह ने वापस ले लिया।"

सब्रो-इत्मीनान का यह अन्दाज़ देखा तो अबू-तलहा (रज़ि॰) बेसाख़्ता बोल उठे, "उम्मे-सुलैम! ख़ुदा की क़सम, तुम सब्र में बाज़ी ले गईं!" और वे 'इन्ना लिल्लाहि व इन्ना इलैहि राजिऊन' पढ़कर ख़ामोश हो गए।

सुबह को प्यारे नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में गए और उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) के सब्रो-इत्मीनान का वाक़िआ बयान किया। नबी (सल्ल॰) ने सुनकर दुआ दी कि अल्लाह अबू-उमैर का बदल अता फ़रमाए। अल्लाह के फ़ज़्ल से उनके यहाँ अब्दुल्लाह नामी एक बच्चे की पैदाइश हुई। नबी (सल्ल॰) ने अनस (रज़ि॰) की तरह अब्दुल्लाह (रज़ि॰) की भी तरबियत फ़रमाई और जैसी दुआएँ अनस (रज़ि॰) को दी थीं, अब्दुल्लाह (रज़ि॰) को भी दीं। इन दुआओं का असर एक तरफ़ अनस (रज़ि॰) के हक़ में यह था कि वे दीन और दुनिया की तमाम नेमतों से मालामाल हुए तो दूसरी तरफ़ अब्दुल्लाह (रज़ि॰) का घर भी बरकतों से भरा था। हज़रत अनस (रज़ि॰) अंसार के दौलतमन्द लोगों में से थे और उनकी सौ-सवा-सौ से ज़्यादा औलाद हुईं। हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि॰) की क़िस्मत देखिए, उनकी औलाद में से दस माहिरे-फ़न क़ारी पैदा हुए।

मेहमान-नवाज़ी

मेहमान-नवाज़ी अरबों की हमेशा से आदत रही है। प्यारे नबी (सल्ल॰) ने मुसलमानों को मेहमान-नवाज़ी के आदाब और तरीक़े भी बताए और इसकी तरफ़ तरग़ीब भी दिलाई। इस सिलसिले में और बहुत-सी हदीसों में से एक हदीस यह है कि नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "जो लोग अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान रखते हैं उन्हें चाहिए कि अपने मेहमानों की ख़ातिर और तवाज़ोअ करें।"
>
> (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

चुनाँचे तमाम सहाबा (रज़ि॰) मेहमान-नवाज़ थे। लेकिन इस ख़ूबी में अबू-तलहा (रज़ि॰) और उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) की मेहमान-नवाज़ी अजीबो-ग़रीब थी। हम सिर्फ़ दो वाक़िए नक़ल करते हैं।

एक बार अबू-तलहा (रज़ि॰) घर आए और कहा कि "अल्लाह के रसूल

(सल्ल॰) भूखे हैं कुछ खाना भेज दो।" यह सुनकर उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) बेचैन हो गईं। उसी वक़्त कुछ रोटियाँ एक कपड़े में लपेटकर अनस (रज़ि॰) को दे दीं। हज़रत अनस (रज़ि॰) रोटियाँ लेकर मस्जिदे-नबवी में पहुँचे नबी (सल्ल॰) ने उनको देखा तो समझ गए। फ़रमाया, "तुमको अबू-तलहा ने भेजा है?" अर्ज़ किया, "जी हाँ!" यह सुनकर आप (सल्ल॰) सहाबा (रज़ि॰) के साथ उठ खड़े हुए और अबू-तलहा के घर तशरीफ़ ले गए। अबू-तलहा (रज़ि॰) सबको देखकर घबरा गए। उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) से कहा, "अब क्या किया जाए, खाना तो बहुत कम है और आप (सल्ल॰) के साथ आदमी ज़्यादा हैं?" उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ने बड़े इत्मीनान से जवाब दिया, "इन बातों से अल्लाह और अल्लाह का रसूल भी वाक़िफ़ है।" यह कहकर सबको बिठाया और जो कुछ था, ला हाज़िर किया। नबी (सल्ल.) ने तमाम सहाबा (रज़ि॰) के साथ मोजिज़ाना तौर पर पेट भरकर खाया।

ऊपर जो वाक़िआ बयान हुआ है उसके बारे में कहा जा सकता है कि इसमें नबी (सल्ल॰) के मोजिज़े का दख़ल था, लेकिन दूसरा वाक़िआ बड़ा अनोखा और निराला है जो अरबों की मेहमान-नवाज़ी में अपनी मिसाल आप है।

दूसरा वाक़िआ इस तरह है कि मस्जिदे-नबवी में कुछ मेहमान आए। आप (सल्ल॰) ने अपने घरों में कहला भेजा। जवाब आया कि अल्लाह के नाम के सिवा घर में कुछ नहीं है। अब आप (सल्ल॰) ने अपने सहाबा की तरफ़ देखा तो अबू-तलहा (रज़ि॰) ने अपने-आपको पेश किया। नबी (सल्ल॰) ने मेहमानों को उनके साथ कर दिया। रात का वक़्त हो चुका था। मेहमान घर पहुँचे तो मालूम हुआ कि यहाँ भी बरकत-ही-बरकत है। सिर्फ़ बच्चों के लिए खाना रखा है। यह सुनकर अबू-तलहा (रज़ि॰) ने उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) से कहा, "बच्चों को सुला दो और चिराग़ बुझा दो।" इसके बाद मेहमानों के साथ दस्तरख़ान पर बैठे तो खाने तक हाथ ले जाते और ख़ाली हाथ वापस लाकर मुँह तक ले जाते। अँधेरे में मेहमान यह समझे कि वे भी खा रहे हैं। इस तरह मेहमानों को खिलाया और रात को घर-भर भूखा सो रहा। सुबह को अबू-तलहा (रज़ि॰) नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में आए तो आप

(सल्ल॰) उनको देखकर मुस्कुराए। अबू-तलहा (रज़ि॰) ने अर्ज़ किया, "मेरे माँ-बाप आपपर क़ुरबान हों, आप इस वक़्त बहुत ख़ुश नज़र आ रहे हैं।" आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "अबू-तलहा रात को तुम दोनों ने मेहमानों के साथ जो सुलूक किया उसे अल्लाह ने देख लिया।" इसके बाद नबी (सल्ल॰) ने घर-भर के लिए दुआ की।

जिहाद का शौक़

इस्लाम में जिहाद की बड़ी फ़ज़ीलत आई है। मुजाहिदों के लिए नबी (सल्ल॰) ने बड़ी-बड़ी बशारतें सुनाई हैं। इससे मालूम होता है कि जिहाद से बढ़कर कोई इबादत और नेकी नहीं है। शहीद के बारे में आया है कि क़र्ज़ के सिवा उससे क़ियामत में और कोई हिसाब न होगा और हिसाब लिए बिना जन्नत में भेजा जाएगा।

जिहाद की इस फ़ज़ीलत ने तमाम सहाबा (रज़ि॰) को जिहाद का दीवाना बना दिया था। मुसलमान औरतें जिहाद में शरीक होतीं और कोई-न-कोई ख़िदमत अपने ज़िम्मे लेतीं। कोई मुजाहिदों को पानी पिलाती, कोई ज़ख़्मियों की देखभाल करती और कुछ लड़ती भी थीं। हज़रत उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ये सारे काम करती थीं।

उहुद की लड़ाई में उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) अपने शौहर अबू-तलहा (रज़ि॰) के साथ शरीक हुईं और उन्होंने बड़ी फुर्ती से मुजाहिदों को पानी पिलाया और सख़्त-से-सख़्त हालात में ज़ख़्मियों तक पहुँचीं। उनके बेटे अनस (रज़ि॰) कहते हैं कि मैंने हज़रत आयशा (रज़ि॰) और अपनी माँ को पाँएचे चढ़ाए, मश्क भर-भरकर लाते और ज़ख़्मियों को पानी पिलाते देखा। मश्क ख़ाली हो जाती तो बड़ी फुर्ती से जातीं और फिर भर लातीं।

उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ख़ैबर की जंग में भी शरीक हुईं, हुनैन की जंग में भी मौजूद थीं। हुनैन की लड़ाई में तो यह हाल था कि अब्दुल्लाह-बिन-तलहा (रज़ि॰) पेट में थे और ख़ुद ख़ंजर हाथ में लिए बफरी खड़ी थीं। नबी (सल्ल॰) ने देखा, तो पूछा "इस ख़ंजर का क्या करोगी?" बोलीं, "ऐ अल्लाह के रसूल! कोई मुशरिक मेरी तरफ़ निकला तो उसका पेट फाड़ दूँगी।" नबी

(सल्ल॰) मुस्कराए। फिर बोलीं, "ऐ अल्लाह के रसूल! दुश्मन भाग खड़े हुए हैं। उनके क़त्ल का हुक्म दीजिए।" आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "अल्लाह काफ़ी है और उसने बेहतर इन्तिज़ाम फ़रमाया है।" यह कहने से नबी (सल्ल॰) का मक़सद यह था कि तुमको आगे बढ़ने की ज़रूरत नहीं है।

ख़ास ख़ूबियाँ

वैसे तो उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) में और बहुत-सी ख़ूबियाँ थीं लेकिन मज़मून के बढ़ जाने की वजह से उनको नज़रअन्दाज़ करते हैं, लेकिन उनकी एक ख़ूबी का ज़िक्र किए बिना हम नहीं रह सकते। इस ख़ूबी में नबी (सल्ल॰) की बीवियों के सिवा कोई दूसरी औरत उनसे बढ़कर नहीं है।

हदीस की किताब मुस्लिम में है—

> "नबी (सल्ल॰) अपनी बीवियों के अलावा किसी और के घर में दाख़िल नहीं होते थे। लेकिन (अपने रिश्ते की ख़ाला) उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) के यहाँ जाते थे। उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) को यह शर्फ़ हासिल था कि नबी (सल्ल॰) उनके यहाँ आराम भी फ़रमाते थे। लोगों ने इसकी वजह पूछी तो फ़रमाया कि मुझे उनपर तरस आता है क्योंकि उनके भाई ने मेरी मदद करने में शहादत पाई।"

नबी (सल्ल॰) हर वक़्त अपनी ख़ाला का दिल बहलाया करते थे। आप (सल्ल॰) अक्सर उनके यहाँ चटाई पर नमाज़ें पढ़ा करते थे। हज के मौक़े पर जब आप (सल्ल॰) तशरीफ़ ले गए तो उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) को भी साथ लिया।

उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ने नबी (सल्ल॰) से बहुत मसले भी सीखे। जब दो सहाबा में किसी मसले के बारे में कोई इख़्तिलाफ़ होता तो उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) के पास आते और उन्हें सालिस (जज) बनाते। इससे उनकी अक़्लमन्दी और मसलों में सूझ-बूझ का पता चलता है। अल्लाह उनपर रहमत नाज़िल फ़रमाए और जन्नत में उनके दर्जे बढ़ाए और हमें उनके नक़्शे-क़दम पर चलने की तौफ़ीक़ अता फ़रमाए।

हज़रत सुमैया-बिन्ते-ख़ुब्बात (रज़ि०)

बचपन का ज़माना खेल-कूद और बेफ़िक्री का ज़माना होता है। बच्चों का दीन-धर्म और रहन-सहन वही होता है जो उनके माँ-बाप का होता है। जवानी का ज़माना जोशो-जज़्बात का ज़माना होता है। उस वक़्त एक जवान जिस तरफ़ बढ़ता है, आँधी तूफ़ान की तरह बढ़ता है। वह अपने जोशो-जज़्बात में अंजाम की परवाह नहीं करता, चाहे उसका यह जोश दुनिया के मक़सद की ख़ातिर हो या मज़हबी बुनियादों पर। बुढ़ापे में इनसान के अन्दर समुद्र की सी गहराई होती है। तहज़ीब और अख़लाक़ के नज़रिए, रहन-सहन के उसूल, मज़हबी अक़ीदे और जो कुछ वह अपनाए हुए होता है सब-का-सब इस उम्र में पक्का हो जाता है। वह अपने तजरिबों की रौशनी में अपने बच्चों को उसी लाइन पर डालना चाहता है जिसे वह उनके लिए अच्छा समझता है। बुढ़ापे में एक इनसान इस तरह सोचने लगता है कि अपनी तो किसी-न-किसी तरह कट गई। अब तो वह सबकुछ करना चाहिए जिससे बच्चों की ज़िन्दगी बने। इसी समझदारी के तहत बड़ी-से-बड़ी मस्लहतें उसके सामने आती हैं। ज़िन्दगी के तमाम शोअबों में एहतियात पैदा हो जाती है और ख़ासकर बच्चों की ज़िन्दगी बनाने के लिए रक़म जमा करने की धुन हो जाती है। इस उम्र में उसके रुख़ का मुड़ना या मोड़ना क़रीब-क़रीब नामुमकिन होता है।

लेकिन हमारी नज़र में एक ऐसी हस्ती हैं जिन्होंने बुढ़ापे में अपने रुख़ को बदला। अपनी ज़िन्दगी के तमाम शोअबों को एक ख़ास सिम्त की तरफ़ मोड़ा और इस ताक़त के साथ मोड़ा कि बड़ी-से-बड़ी ताक़तें उनके रुख़ के मोड़ को रोक न सकीं। मज़े की बात यह है कि वे एक बूढ़ी ख़ातून थीं। ख़ातून भी ऐसी कि न मालदार, न ऊँचे ख़ानदान की, बल्कि उनका ताल्लुक़ एक ग़ुलाम ख़ानदान से था और वे ख़ुद लौंडी थीं। ज़ाहिर है कि एक बड़ी

उम्र की लौंडी को अपना मज़हब, अपनी तहज़ीब, अपना रहन-सहन और अपना सबकुछ बदलने में जो रुकावटें पेश आई होंगी वे कितनी सख़्त और मुश्किल साबित होंगी, फिर इतना ही नहीं, बल्कि हम देखते हैं कि उनके मुड़े हुए रुख़ को रोकने के लिए उनके माहौल की बड़ी-से-बड़ी ताक़तें उनसे टकराईं, मगर वाक़िआ यह है कि वे अपनी जगह एक मज़बूत चट्टान की तरह ऐसी जमी रहीं कि मुख़ालिफ़ ताक़तें हिला न सकीं। ये देखने में बूढ़ी और लौंडी ज़रूर हैं, लेकिन हक़ीक़त में बड़ी उम्र की मज़बूत ख़ातून वही हैं जिनका नाम हमने अपने इस मज़मून का उनवान बनाया है। हमारे लिए ईमान को पक्का और इस्लाम को मज़बूत करने के लिए इस मुबारक हस्ती का ज़िक्र एक बेहतरीन बयान है और इस वजह से हमने हज़रत सुमैया (रज़ि॰) के वाक़िआत दोहराने की कोशिश की है।

जिस समय प्यारे नबी (सल्ल॰) ने इस्लाम की आवाज़ मक्का की गलियों में बुलन्द की और लोगों को सिर्फ़ एक ख़ुदा की बन्दगी की दावत दी, तो जिन नेक हस्तियों ने सबसे पहले बढ़कर अल्लाह के नबी (सल्ल॰) का साथ दिया उनमें से एक हज़रत सुमैया (रज़ि॰) भी हैं। इन सबसे पहले ईमान लानेवालों में हज़रत सुमैया को एक शर्फ़ यह भी हासिल है कि इनका पूरा ख़ानदान अल्लाह के नाम पर एक साथ नबी (सल्ल॰) के क़दमों में आ गिरा। वे ख़ुद मुसलमान हुईं, उनके शौहर यासिर-बिन-आमिर (रज़ि॰) मुसलमान हुए और उनके नेक और फ़रमाँबरदार बेटे हज़रत अम्मार-बिन-यासिर (रज़ि॰) भी मुसलमान हुए।

हज़रत सुमैया (रज़ि॰) इस्लाम क़बूल करते वक़्त काफ़ी उम्र की थीं। बुढ़ापे में हर इनसान मस्लहत के तहत काम करता है। पहली बात यह कि वह कठिन राहों की तरफ़ रुख़ नहीं करता। लेकिन अगर मजबूरी में कोई मुश्किल रास्ता आ ही जाता तो रास्ते की ऊँच-नीच को वह दूर से देखकर रास्ता काट लेता है।

जिस वक़्त हज़रत सुमैया (रज़ि॰) ने इस्लाम क़बूल किया, वह ऐसा ज़माना था कि मक्का में इस्लाम का नाम लेनेवाले की ज़बान काट ली जाती थी। इस्लाम क़बूल करने के जुर्म में मक्का का वह तबक़ा जिसकी वहाँ

हुकूमत थी इस्लाम क़बूल करनेवालों को सख़्त सज़ाएँ देता था कि उनके ख़याल से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन हज़रत सुमैया (रज़ि.) ने यह सब जानते और देखते हुए मुहम्मद (सल्ल.) के नबी होने की गवाही दी। उन्होंने यह नहीं सोचा कि शौहर पर क्या बीतेगी? बच्चे पर क्या मुसीबत आएगी? और खुद उन्हें कैसी-कैसी जानलेवा आज़माइशों का सामना करना पड़ेगा? उन्होंने हर जानी और माली मस्लहत ठुकरा दी और इस ज़रा-सी चट्टान ने मक्का के पहाड़ों से टकराने की ठान ली।

हज़रत सुमैया (रज़ि.) मक्का के उस मालदार आदमी की लौंडी थीं जो मालो-दौलत और ज़्यादा औलाद के ऐतिबार से बड़ा मशहूर था। वलीद-बिन-मुग़ीरा मक्का का एक ताक़तवर आदमी था जिसे अल्लाह ने माल और औलाद की बरक़त से नवाज़ा था। वलीद का बड़ा भाई अबू-उमैया (अबू-हुज़ैफ़ा-बिन-मुग़ीरा) था जो एक बड़ा नामी और असरदार आदमी था। ये सब क़ुरैश के नामी क़बीले बनू-मख़ज़ूम से थे। इस क़बीले के तआरुफ़ में इतना कह देना काफ़ी है कि ख़ालिद-बिन-वलीद और अम्र-बिन-हिशाम (अबू-जह्ल) इसी क़बीले से थे। अबू-जह्ल को इस्लाम से कितनी नफ़रत थी और वह मुसलमानों को सताने में कितना जोशीला था? यह उसकी कुन्नियत (उपनाम) अबू-जह्ल ही से ज़ाहिर होता है।

इसी ख़ानदान की लौंडी हज़रत सुमैया (रज़ि.) ने इस्लाम क़बूल कर लिया तो मुग़ीरा की औलाद ने मक्का में एलान कर दिया कि यासिर की औलाद के साथ हर आदमी बुरे-से-बुरा सुलूक करने में आज़ाद है। इस एलान ने मक्का के मुशरिकों को यासिर की औलाद पर शेर कर दिया। वे हज़रत सुमैया (रज़ि.) को लोहे की ज़िरह (कवच) पहनाकर मक्का की तपती रेत पर धूप में खड़ा कर देते थे। उनके बेटे हज़रत अम्मार (रज़ि.) को पानी में लगातार डुबकियाँ देते, देर तक पानी में रखने के बाद निकालते और कहते, "मुहम्मद को बुरा कह!"

वे नबी (सल्ल.) की तारीफ़ करते तो फिर उनका सिर पानी में कर दिया जाता। हज़रत सुमैया (रज़ि.) के शौहर यासिर (रज़ि.) को भी इसी तरह सताया जा रहा था। उनपर भारी पत्थर रख दिया जाता। शरारती बच्चों को

उनके पीछे छोड़ दिया जाता। ये शरारती बच्चे उन्हें इस तरह सताते जैसे एक पागल को सताया जाता है।

यासिर के ख़ानदान पर ये ज़ुल्मो-सितम हज़रत सुमैया (रज़ि.) खुली आँखों से देखतीं और खुद भी सहतीं, लेकिन क्या कभी उनके इस्लाम में कमज़ोरी आई? क्या अबू-जह्ल जैसा पत्थर दिल आदमी भी उनके ईमान को ख़त्म करने में कामयाब हो सका? नहीं...कभी नहीं...। हज़रत सुमैया (रज़ि.) ने बड़ी बहादुरी, हिम्मत और सब्र के साथ सारी मुसीबतों का मुक़ाबला किया। अबू-जह्ल अपनी नाकामी पर ऐसा झुँझलाया कि एक दिन, जब दिन-भर अरब के रेगिस्तान की तपती रेत में तपाकर हज़रत सुमैया (रज़ि.) को घर लाया गया तो अबू-जह्ल ने गालियाँ देना शुरू कर दीं। इस तरह उसके दिल की भड़ास न निकली तो इतनी ज़ोर से बरछी फेंककर मारी कि हज़रत सुमैया (रज़ि.) इस सदमे को बरदाश्त न कर सकीं। चोट खाकर गिरीं और अल्लाह को प्यारी हो गईं।

हज़रत अम्मार-बिन-यासिर (रज़ि.) ने माँ की इस बेबसी और बेकसी की मौत की ख़बर नबी (सल्ल.) को दी। आप (सल्ल.) ने सब्र की नसीहत फ़रमाई और दुआ की, "ऐ अल्लाह! यासिर की औलाद को जहन्नम से बचा!"

हज़रत सुमैया (रज़ि.) वे पहली ख़ातून हैं जिन्होंने इस्लाम पर अपनी जान क़ुरबान कर दी। बद्र की लड़ाई में जब अबू-जह्ल मारा गया तो प्यारे नबी (सल्ल.) ने हज़रत अम्मार (रज़ि.) से फ़रमाया, "अल्लाह ने तुम्हारी माँ के क़ातिल से बदला ले लिया।"

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि॰)

एक चट्टान जिसने अपने से बड़ी चट्टान को तोड़ा

हज़रत फ़ातिमा-बिन्ते-ख़त्ताब (रज़ि॰) एक बड़े आदमी की बेटी, एक बड़े आदमी की बहन और एक बड़े आदमी की बीवी थीं। उनके परिचय के लिए इतना कह देना काफ़ी है कि वे दूसरे ख़लीफ़ा हज़रत उमर (रज़ि॰) की बहन थीं और उन दस बुज़ुर्गों में से एक बुज़ुर्ग हज़रत सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि॰) की बीवी थीं, जिनके जन्नती होने का एलान नबी (सल्ल॰) ने एक साथ एक बैठक में फ़रमाया और जिन्हें हम 'अशरा-मुबश्शरा' के नाम से याद करते हैं।

हज़रत फ़ातिमा (रज़ि॰) अपने शौहर के साथ ही मुसलमान हुईं। ये और इनके शौहर सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि॰) उन दस ख़ुशक़िस्मत मुसलमानों में से हैं जो सबसे पहले मुसलमान हुए और फिर उन्होंने अपनी साबित-क़दमी से एक ऐसे आदमी को इस्लाम के क़दमों में ला गिराया जो अपनी इस्लाम-दुश्मनी और संगदिली में अबू-जह्ल के बराबर ही था। यह एक छोटा-सा वाक़िआ है लेकिन जब हमने इस वाक़िए को पढ़ा तो हमारे अन्दर भी ईमान करवटें लेता महसूस हुआ। उम्मीद है कि इस वाक़िए की वजह से ईमानवालों के दिलों में गर्मी पैदा हो जाएगी। इसी वजह से हम इस वाक़िए को अपने लफ़्ज़ों में बयान करते हैं वाक़िआ कुछ इस तरह है—

जब प्यारे नबी (सल्ल॰) ने मक्का की गलियों में तौहीद का नारा बुलन्द किया, अपनी नुबूवत का एलान किया और फ़रमाया, "लोगो! उसकी इबादत करो जिसने तुम सबको पैदा किया और जिसने तुमको इनसान बनाया और जो तुम सबको रोज़ी देनेवाला और तुम्हारी ज़रूरतों को पूरा करनेवाला है और उन बुतों की बन्दगी छोड़ो जिन्हें तुम अपने हाथों से बनाते हो, जो यह भी नहीं कर सकते कि अपने ऊपर बैठी हुई मक्खी को उड़ा सकें। फिर तुम इनके आगे हाथ क्यों फैलाते हो?"

यह हक़ बात मक्का के लोगों ने सुनी तो हक़-पसन्द लोगों ने बढ़कर

लब्बैक कहा और वे एक-एक करके इस्लाम क़बूल करने लगे। लेकिन इसी हक़ की आवाज़ ने बातिल-पसन्दों को बौखला दिया। उन्होंने हक़ को दबाने की ठानी। मुसलमानों को समझा-बुझाकर, डरा-धमकाकर, उनका मज़ाक़ उड़ाकर और उनपर ज़ुल्मो-सितम के पहाड़ तोड़कर इस्लाम से फिर जाने पर मजबूर करना शुरू कर दिया। मगर यह वह नशा न था जिसे ये कार्रवाई उतार देती। लोग हक़ की तरफ़ बढ़ते रहे और बातिलपरस्त ताव खाते रहे, यहाँ तक कि अड़तीस नेक हस्तियाँ मुसलमान हो गईं। 39वीं हस्ती मक्का के मशहूर पहलवान हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) थे। इनके मुसलमान होने से मुशरिकों में खलबली मच गई। अब वे सिर जोड़कर बैठे और सोचने लगे कि किस तरह इस्लाम को दबाया जा सकता है। किसी ने कहा कि इस्लाम की ओर बुलानेवाले (मुहम्मद सल्ल॰) ही को क्यों नहीं ख़त्म कर देते। और फिर इसी बात पर सब राज़ी हो गए। इसके बाद अब वह जियाला तलाश किया जाने लगा जो बड़ा बहादुर और जोशीला नौजवान हो, साथ ही इस्लाम से सख़्त दुश्मनी और नफ़रत भी रखता हो। इस इन्तिख़ाब में देर हो गई। आख़िर एक नौजवान तड़पकर उठा और बोला, "मैं इस काम को अंजाम दूँगा।" मक्का के मुशरिकों ने इस नौजवान को देखा, और देखते ही पुकार उठे, "उमर-बिन-ख़त्ताब ज़िन्दाबाद।"

उमर-बिन-ख़त्ताब (रज़ि॰) क़ुरैश के मशहूर आदमी थे। उनकी बहादुरी मिसाली थी। क़ुरैश को उनपर पूरा इत्मीनान था कि यह नौजवान अपना इरादा पूरा किए बिना न लौटेगा। चुनाँचे उमर-बिन-ख़त्ताब (रज़ि॰) इस्लाम की शमा बुझाने चले। वे पूरे जोश के साथ तेवर बदले, नंगी तलवार कंधे पर रखे, मज़बूत इरादा दिल में किए हुए और संगदिली की तस्वीर बने हुए जा रहे थे। रास्ते में एक नव-मुस्लिम दोस्त से मुलाक़ात हो गई। उनका इस्लाम क़बूल करना इन्हें मालूम न था, दोस्त ने भाँप लिया कि आज उमर क्यों बिगड़ा हुआ है। बोले, "कहिए जनाब! आज इरादा कहाँ का है?" उमर- बिन-ख़त्ताब (रज़ि॰) ने जवाब दिया, "मुहम्मद का ख़ात्मा करने जा रहा हूँ। आज मैं रोज़-रोज़ का झगड़ा ही मिटा दूँगा।" दोस्त ने कहा—

"उमर! पहले घर की ख़बर लो फिर कहीं जाना...।"

पूछा, "क्या मतलब है...?"

बताया, "...तुम्हारे बहन-बहनोई ने इस्लाम क़बूल कर लिया है।"

यह सुनना था कि उमर के तन-बदन में आग ही तो लग गई। बड़बड़ाए, "अच्छा यह रोग ख़ुद हमारे घर में भी आ घुसा है।" गुस्सेवाले आदमी तो थे ही, वहीं से बहन और बहनोई के घर का रुख़ किया कि पहले उनको मुसलमान होने का मज़ा चखा दें, फिर आगे बढ़ें।

बहन के घर के पास पहुँचे, सुन-गुन ली, कुछ पढ़े जाने की आवाज़ मालूम हुई। दरवाज़े पर कान लगाकर सुनने लगे। "अच्छा, क़ुरआन पढ़ा जा रहा है!" उमर ने होंठ चबाकर कहा। फिर आवाज़ दी। बहन और बहनोई आवाज़ सुनकर चौंके। उन्होंने झट क़ुरआनी आयतें छिपा लीं। इतने में उमर अन्दर आ गए। पूछा, "तुम लोग अभी क्या पढ़ रहे थे...?"

साफ़ जवाब न पाकर बहनोई से लिपट गए और उनकी जान लेने पर तुल गए। उमर बुरी तरह बहनोई हज़रत सईद-बिन-ज़ैद (रज़ि॰) को मार रहे थे। यह मंजर हज़रत फ़ातिमा (रज़ि॰) से न देखा गया। वे शौहर को बचाने पहुँच गईं। उनका इस तरह बीच में आ जाना उमर जैसे आदमी की आतिश मिज़ाजी को भड़काने के लिए बहुत था। उन्होंने बहनोई को तो छोड़ दिया और बहन पर पिल पड़े। मारते-मारते लहूलुहान कर दिया, लेकिन सुब्हानल्लाह! यक़ीनन उस वक़्त फ़रिश्ते हज़रत फ़ातिमा (रज़ि॰) के सब्र और हिम्मत को मुबारकबाद दे रहे होंगे। उनमें ज़रा भी कमज़ोरी पैदा न हुई। जब उन्होंने देखा कि मौत सिर से टलती नज़र नहीं आती और उमर आज जान ही लेकर दम लेंगे तो वे भी अपना ईमान बचाने के लिए चट्टान की तरह ज़ख़्म खाती जाती थीं और कहती जाती थीं—

"उमर जो चाहे करो, अब इस्लाम दिल से नहीं निकल सकता।"

बहन के ये जुमले बार-बार कानों से टकराए और ज़मीन को बहन के ख़ून से रंगीन देखा तो दंग रह गए। हाथ रोका बहन पर उचटती नज़र डाली। उनके सारे जिस्म से ख़ून बह रहा था। आख़िर भाई ही थे, देखा न गया। नज़रें नीची कर लीं। आख़िर बहन का ख़ून रंग लाया। कुछ शर्म-सी

महसूस हुई कि बहन को मारने से क्या हासिल? दिल कुछ पसीजा। पूछ बैठे, "अच्छा बताओ, तुम लोग क्या पढ़ रहे थे?" बहन ने कहा, "हम जो कुछ पढ़ रहे थे उस वक़्त तक तुम्हारे हाथ में नहीं दे सकते, जब तक तुम पाक न हो लो।"

"आख़िर है तो मेरी ही बहन, ज़िद पर आ गई है।" उमर के दिल में एक ख़याल आया। पत्थर दिल पिघलता महसूस हुआ। "अच्छा लो नहाए लेता हूँ।" उमर ने ग़ुस्ल किया। हज़रत फ़ातिमा (रज़ि.) ने काँपते हुए हाथों से नई-नई नाज़िल हुई आयतें जिनको हज़रत सईद (रज़ि.) ने लिख लिया था और आज अपनी बीवी को याद करा रहे थे, उमर के हाथों में दे दीं। बड़ी चट्टान छोटी चट्टान से टकराकर टूट चुकी थी। उमर ने क़ुरआनी आयतों को पढ़ा। ग़ौर किया तो ख़ुदाई जलाल से काँपने लगे। पढ़ते जा रहे थे और काँपते जा रहे थे। आख़िर में उनकी ज़बान से बेसाख़्ता निकला, "क्या उमदा कलाम है!" और फिर पुकार उठे—

"अश्हदु अल्ला इला-ह इल्लल्लाहु व अश्हदु अन-न मुहम्मदन अब्दुहू व रसूलुहू।"

(मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं और मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद उसके बन्दे और रसूल हैं)।

वह मंजर भी देखने के लायक़ होगा कि एक तरफ़ मक्का के मुशरिक इन्तिज़ार में थे कि कब उमर मुहम्मद (सल्ल.) का सिर लेकर आते हैं। दूसरी तरफ़ अबू-अरक़म के घर सहाबा किराम (रज़ि.) नबी (सल्ल.) से कह रहे थे कि उमर आ रहे हैं, अब क्या होगा? और तीसरी तरफ़ उमर (रज़ि.) अपनी बहन और बहनोई के जिस्म से ख़ून साफ़ कर रहे थे और अपने गर्म आँसुओं से उनके ज़ख़्मों को धो रहे थे और ज़बान से कहते जा रहे थे, "सब तारीफ़ें अल्लाह ही के लिए हैं जो सारे जहानों का रब है और जो बड़ा रहमान और रहीम है।"

हज़रत असमा-बिन्ते-अबू-बक्र (रज़ि०)

हज़रत असमा (रज़ि०) के परिचय में इतना ही कह देना काफ़ी है कि वे प्यारे नबी (सल्ल०) के यारे-ग़ार हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि०) की बेटी और उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आयशा सिद्दीक़ा (रज़ि०) की बड़ी बहन थीं। ये वे सच्ची ईमानवाली बीवी थीं जो ईमान लाने के बाद बड़ी मज़बूती से इस्लाम पर जमी रहीं। और ज़्यादा-से-ज़्यादा दीन के काम अंजाम दिए। ये उस वक़्त इस्लाम में दाख़िल हुईं जब सत्तरह बुज़ुर्ग अल्लाह की तौहीद और मुहम्मद (सल्ल०) की नुबूवत पर गवाही दे चुके थे। इसके मानी ये हुए कि हज़रत असमा (रज़ि०) पहले ईमान लानेवालों में अट्ठारहवें नम्बर पर थीं। इनके इस्लाम क़बूल करने का ज़माना, वह ज़माना था जब प्यारे नबी (सल्ल०) और तमाम मुसलमान बुरी तरह मक्का के मुशरिकों के ज़ुल्मो-सितम का शिकार हो रहे थे। हद यह कि हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) जैसा असरदार और सख़ी आदमी भी उनके हाथों चैन से न रह सकता था। उस वक़्त हज़रत असमा (रज़ि०) की उम्र पन्द्रह साल थी।

उस ज़माने में हज़रत असमा (रज़ि०) नौजवान थीं, लेकिन इतनी समझदार और इस्लाम की मतवाली थीं कि नबी (सल्ल०) के बड़े-से-बड़े राज़ में शरीक रहती थीं। नबी (सल्ल०) का मक्का से मदीना हिजरत फ़रमाना एक इतना अहम वाक़िआ था कि उसकी नाकामी पर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की पाक ज़ात भी ख़तरे में पड़ सकती थी। आप (सल्ल०) ने जिस राज़दारी के साथ हिजरत फ़रमाई, उसमें चन्द ही हस्तियाँ शरीक थीं। नबी (सल्ल०) के ख़ानदान में सिर्फ़ हज़रत अली (रज़ि०) इस राज़ से वाक़िफ़ थे या फिर हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) के घराने की नौजवान मोमिना (हज़रत असमा रज़ि०) को हिजरत के तमाम राज़ मालूम थे और इस सफ़र के इन्तिज़ाम में वे अपने वालिद हज़रत अबू-बक्र (रज़ि०) की सबसे बड़ी मददगार थीं।

जब नबी (सल्ल॰) रातों-रात अपने घर से निकलकर ग़ारे-सौर में पहुँचे तो थोड़ी एहतियात के तहत ग़ार में कई रोज़ ठहरना पड़ा। हज़रत असमा (रज़ि॰) रोज़ाना आप (सल्ल॰) की ख़िदमत में खाना ले जातीं और खिलाकर वापस आतीं। उनके भाई अब्दुल्लाह (रज़ि॰) जो अभी मुसलमान नहीं हुए थे, दिन-भर मक्का के मुशरिकों में घुले-मिले रहते थे और उनकी सरगर्मियों को देखते रहते थे, शाम को बहन के साथ ग़ार में जाते और नबी (सल्ल॰) को सारी ख़बरें देते। आमिर जो हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) का चरवाहा था उसे गल्ला (बकरियों का झुण्ड) समेत साथ ले जाया करती थीं। बकरियों का ताज़ा दूध नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में पेश करतीं और जब दोनों भाई-बहन वापस होते तो पीछे-पीछे बकरियों का गल्ला होता। इस तरह उनके पाँव के निशान बकरियों के खुरों से मिट जाते और कोई समझ न सकता कि इस तरफ़ कौन गया है। यह समझदारी हज़रत असमा (रज़ि॰) की अक़्लमन्दी का पता देती है।

ज़ातुन्निताक़ैन का लक़ब

ग़ार में तीन दिन ठहरने के बाद नबी (सल्ल॰) ने हज़रत असमा (रज़ि॰) से फ़रमाया, "जाकर अली से कह देना कि कल रात को तीन ऊँट और एक दलील (रास्ता जाननेवाला) लेकर यहाँ आ जाए।" हज़रत अली (रज़ि॰) ऊँट और दलील लेकर नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में ठीक वक़्त पर पहुँचे। इधर हज़रत असमा (रज़ि॰) कई रोज़ का खाना-पानी लेकर पहुँच गईं। यहाँ खाना-पानी और मशकीज़े को बाँधने की ज़रूरत हुई तो असमा (रज़ि॰) ने झट अपना निताक़ खोला और उसके दो टुकड़े किए। एक से खाना और दूसरे से मशकीज़े का मुँह बाँधा। इस इन्तिज़ाम को देखकर नबी (सल्ल॰) मुस्कुराए और खुश होकर 'ज़ातुन्निताक़ैन'[1] कहकर पुकारा। हज़रत असमा

1. यानी दो निताक़वाली। अरबी में 'निताक़' उस रूमाल को कहते हैं जिसे औरतें अपने कुर्ते के ऊपर कमर से लपेट लेती हैं। हज़रत असमा (रज़ि.) दो निताक़वाली इसलिए मशहूर हैं क्योंकि उन्होंने अपने निताक़ के दो टुकड़े करके नबी (सल्ल.) से खाने और पानी का मशकीज़ा बाँधा था।

(रज़ि॰) का यह लक़ब इतना मशहूर हुआ कि आज तक वे इसी लक़ब से मशहूर हैं।

एक और शर्फ़

जब नबी (सल्ल॰) ने अल्लाह के हुक्म से मुसलमानों को हिजरत का हुक्म सुनाया और मुसलमान मक्का से मदीना पहुँचने लगे तो मदीना की आबो-हवा (जलवायु) उनकी सेहत के लिए रास न आई। ख़ुदा की क़ुदरत कि कई साल तक उनके घरों में बच्चे की पैदाइश भी नहीं हुई। दुश्मनों ने मुसलमानों का ईमान डगमगाने के लिए मशहूर कर दिया कि उनपर जादू कर दिया गया है। उनके यहाँ औलाद ही न होगी। हज़रत असमा (रज़ि॰) ने अभी तक हिजरत नहीं की थी। उनकी शादी नबी (सल्ल॰) के फूफीज़ाद भाई हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) से हुई थी और हज़रत असमा (रज़ि॰) मक्का ही में थीं। हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) ने एक आदमी को भेजा कि वह जाकर बाल-बच्चों को ले आए। साथ ही नबी (सल्ल॰) ने हज़रत ज़ैद-बिन हारिसा (रज़ि॰) और अपने ग़ुलाम हज़रत अबू-राफ़ेअ (रज़ि॰) को भेजा। ये सब लोग मक्का पहुँचे और फिर उनके साथ अब्दुल्लाह-बिन-अबू-बक्र (रज़ि॰) अपनी वालिदा और दोनों बहनों हज़रत असमा (रज़ि॰) और हज़रत आयशा (रज़ि॰) को लेकर मदीना की तरफ़ चल दिए।

हज़रत असमा (रज़ि॰) हिजरत करके मदीना पहुँचीं तो कुछ दिनों के बाद उनके यहाँ बच्चे की विलादत हुई। बच्चे का नाम अब्दुल्लाह रखा गया। हज़रत असमा (रज़ि॰) अब्दुल्लाह को लेकर नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में पहुँचीं तो मुसलमानों ने ख़ुशी का नारा बुलन्द किया। नबी (सल्ल॰) ने अब्दुल्लाह (रज़ि॰) को गोद में लिया, घुट्टी (नवजात शिशु को पिलाई जानेवाली रेचक-पाचक दवा) पिलाई और दुआ फ़रमाई। दुश्मनों को इस विलादत की ख़बर हुई तो उनके चेहरे उतर गए।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) के अलावा हज़रत असमा (रज़ि॰) की और भी औलादें हुईं और अल्लाह के फ़ज़्ल से वे सब नामवाली हुईं और इस्लाम का सुतून बनीं। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰), उरवा-बिन-ज़ुबैर

(रज़ि.), मुंज़िर-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.), आसिम-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.), मुहाजिर-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) और मुसअब-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.)।

घरेलू ज़िन्दगी

हज़रत असमा (रज़ि.) मक्का के एक रईस हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) की बेटी थीं। जवान हुईं तो उनकी शादी भी रईस ख़ानदान के एक नौजवान ज़ुबैर-बिन-अव्वाम (रज़ि.) से हुई। हज़रत असमा (रज़ि.) की माँ भी क़ुरैश के एक असरदार रईस सरदार अब्दुल-उज़्ज़ा की बेटी थीं। ये तीनों ख़ानदान मक्का के मालदार और असरदार ख़ानदान थे लेकिन मुसलमान होने के जुर्म में क़ुरैशे-मक्का की मेहरबानी से जिस तरह बड़े-बड़े लोगों की माली हालत तबाहो-बरबाद कर दी गई उसी तरह हज़रत असमा (रज़ि.) के शौहर हज़रत ज़ुबैर (रज़ि.) को भी दाने-दाने का मुहताज कर दिया गया। ज़ुबैर (रज़ि.) सत्तरह बरस के नौजवान थे कि इस्लाम क़बूल कर लिया। इस 'जुर्म' में उनके घरवालों ने पहले मारा-पीटा, क़ैद किया लेकिन जब उनका नशा न उतरा तो घर से बेघर कर दिया। आख़िर ज़ुबैर (रज़ि.) हबशा हिजरत कर गए।

हज़रत असमा (रज़ि.) का निकाह इसी ग़रीब रईसज़ादे से हुआ। लेकिन हज़रत असमा (रज़ि.) के माथे पर बल न आया। ग़रीब सही लेकिन मोमिन आदमी को ख़ुशी-ख़ुशी क़बूल किया। कुछ दिनों के बाद आगे-पीछे दोनों हिजरत करके मदीना पहुँचे तो जो कुछ रहा-सहा था, वह भी मक्का में रह गया। मदीना में अल्लाह के नाम के सिवा इन दोनों के पास और कुछ न था। कुछ दिनों के बाद नबी (सल्ल.) ने छोटा सा नख़लिस्तान (रेगिस्तान में हरी-भरी जगह) अता किया। मदीना की इब्तिदाई ज़िन्दगी का नक़्शा (आप-बीती) हज़रत असमा (रज़ि.) ख़ुद बयान फ़रमाया करती थीं। हम उनकी आप्र-बीती उन्हीं के लफ़्ज़ों में नीचे बयान करते हैं–

"जब मेरी शादी ज़ुबैर-बिन-अव्वाम (रज़ि.) से हुई तो उस वक़्त उनके पास न माल था न कोई ग़ुलाम। बेहद तंगदस्त और ग़रीब थे। सिर्फ़ एक घोड़ा और एक ऊँट था और मैं ही उनकी देखभाल करती थी। मदीना

पहुँचकर नबी (सल्ल॰) ने एक नख़लिस्तान ज़ुबैर (रज़ि॰) को अता फ़रमाया था जो मदीना से 9 मील यानी साढ़े चौदह किलोमीटर के फ़ासले पर था। मैं वहाँ से रोज़ाना खजूर की गुठलियाँ इकट्ठा करती, फिर गठरी बाँधकर सिर पर रखती और घर तक लादकर लाती। घर आकर अपने हाथ से दलती और घोड़े को खिलाती। पानी भरती, डोल खींचती और घर का सारा काम-काज करती। मुझको अच्छी रोटियाँ पकानी नहीं आती थी इसलिए सिर्फ़ आटा गूँधकर रख देती। मेरे घर के क़रीब अंसार औरतें रहती थीं। वे बड़ी हमदर्दी और मुहब्बत के साथ रोटियाँ पका दिया करती थीं। हर रोज़ मुझे ऐसी ही परेशानियों का सामना करना पड़ता था। एक दिन मैं नख़लिस्तान से खजूर की गुठलियाँ लादे आ रही थी कि रास्ते में प्यारे नबी (सल्ल॰) मिले। आप (सल्ल॰) ऊँट पर सवार थे। कुछ सहाबी (रज़ि॰) भी आप (सल्ल॰) के साथ थे। आप (सल्ल॰) ने मुझे इस मेहनत में देखा तो मेरी ख़ातिर ऊँट को बिठाया ताकि मैं आप (सल्ल॰) के पीछे ऊँट पर सवार हो जाऊँ। लेकिन मैं शर्म की वजह से सवार न हुई।

इस वाक़िए के कुछ दिनों बाद मेरे वालिद हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि॰) ने एक ग़ुलाम भेज दिया जिसकी वजह से घोड़े की ख़िदमत से मुझे नजात मिल गई और मेरी मुश्किल कुछ हद तक आसान हो गई।"

इस ग़रीबी की वजह से हज़रत असमा (रज़ि॰) घर का ख़र्च बड़ी एहतियात के साथ चलाती थीं। हर चीज़ ज़रूरत-भर नाप-तौलकर उठातीं। नबी (सल्ल॰) ने एक दिन इस नाप-तौल से मना फ़रमाया कि इस तरह नाप-तौल मत किया करो वरना अल्लाह इतना ही देगा। नबी (सल्ल॰) के इस तरह फ़रमाने से हज़रत असमा (रज़ि॰) ने यह आदत छोड़ दी।

हज़रत असमा (रज़ि॰) एक मुद्दत तक इसी ग़रीबी के साथ गुज़र-बसर करती रहीं। फिर अल्लाह ने बरकत नाज़िल फ़रमाई। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि॰) आगे चलकर अच्छी हालत में आ गए। अल्लाह ने उनको मालामाल किया। इस अच्छी हालत में भी हज़रत असमा (रज़ि॰) ने अपनी सादा ज़िन्दगी को न छोड़ा। वे अब भी मोटा कपड़ा पहनतीं, रूखी-सूखी रोटी खातीं और सादा ज़िन्दगी बसर करतीं। इसी ज़माने में उनके एक बेटे हज़रत मुंज़िर-बिन-ज़ुबैर

(रज़ि.) इराक़ की लड़ाई से वापस आए तो माँ के लिए बहुत अच्छे और बारीक कढ़ाई के कुछ कपड़े लाए। ख़िदमत में पेश किए तो कपड़े की नर्मी और बारीकी और उसके बेल-बूटे देखकर वापस कर दिया। कहला भेजा कि मैं ऐसे बारीक कपड़े नहीं पहनती। नेक और फ़रमाँबरदार बेटे ने फिर मोटे और सादे कपड़े भेजे तो क़बूल किया और उन्हें पहना भी।

सख़ावत

सवाल पैदा होता है कि मालदार होने के बाद भी जब हज़रत असमा (रज़ि.) मोटा-झोटा पहनतीं और रूखा-सूखा खातीं और फ़क़ीराना ज़िन्दगी गुज़ारती थीं तो क्या माल बचा-बचाकर रखती थीं? नहीं, उनका यह ज़ेहन नहीं था! अल्लाह ने उनको माल दिया तो उन्होंने सख़ावत इख़्तियार की। बड़ी सख़ावत से दूसरों को बाँटा। अपनी औलाद को भी नसीहत फ़रमाया करतीं कि माल दूसरों की मदद करने और उनकी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अल्लाह देता है, जमा करने के लिए नहीं। इसलिए अल्लाह के बन्दों की मदद करो। अगर तुम अपना माल अल्लाह के बन्दों पर ख़र्च नहीं करोगे तो यह कंजूसी है और ख़ुदा भी तुमको अपने फ़ज़्लो-इनाम से महरूम कर देगा। तुम जो सदक़ा और ख़ैरात करोगे अस्ल में वही तुम्हारे लिए अच्छा सामान है जो न कभी कम होगा और न उसके बरबाद होने का डर है।

इस तरह की नसीहतें वे करतीं और इसका नमूना अमली तौर पर पेश भी करतीं। उनकी छोटी बहन उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आयशा (रज़ि.) का इन्तिक़ाल हुआ तो उन्होंने एक ज़मीन का टुकड़ा तरके में छोड़ा। चूँकि हज़रत असमा (रज़ि.) के सिवा तरके का कोई और वारिस न था इसलिए वह ज़मीन उनको मिली। हज़रत असमा (रज़ि.) ने वह ज़मीन बेच डाली और सारी रक़म अपने रिश्तेदारों में बाँट दी जो एक लाख दिरहम थी (यानी लगभग सोला लाख सत्तर हज़ार रुपए)।

अक़ीदे की मज़बूती

हज़रत असमा (रज़ि.) अक़ीदे की बड़ी मज़बूत थीं। वे अपने अक़ीदे में इतनी सख़्त थीं कि मुशरिक आदमी से उन्हें बड़ी नफ़रत थी, चाहे वह

मुशरिक उनका क़रीबी रिश्तेदार ही हो। नबी (सल्ल॰) उनकी सख़्ती को कम करके बीच की राह पर लाने की नसीहत फ़रमाया करते थे।

वाक़िआ है कि एक बार उनकी वालिदा मक्का से उनको देखने के लिए मदीना तशरीफ़ लाईं। वे अभी मुसलमान नहीं हुई थीं और मुशरिकाना अक़ीदा रखती थीं। वे बेटी के लिए कुछ तोहफ़े लाई थीं। हज़रत असमा (रज़ि॰) को शिर्क से बेहद नफ़रत थी। उन्होंने न तोहफ़े लिए और न मुशरिक माँ को घर में ठहराया। लेकिन फिर भी माँ तो माँ ही होती है, औलाद को माँ से फ़ितरी मुहब्बत होती है। परेशान थीं क्या करें? नबी (सल्ल॰) के पास कहला भेजा, तो आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया कि तोहफ़े क़बूल कर लो और माँ को इज़्ज़त के साथ घर में मेहमान रखो। इसके बाद आप (सल्ल॰) ने क़ुरआन की कुछ आयतें तिलावत कीं जिनका अनुवाद यह है—

"अल्लाह तुम्हें इस बात से नहीं रोकता कि तुम उन लोगों के साथ नेकी और इनसाफ़ का बरताव करो जिन्होंने दीन के मामले में तुम से जंग नहीं की और तुम्हें तुम्हारे घरों से नहीं निकाला है। अल्लाह इनसाफ़ करनेवालों को पसन्द करता है। वह तुम्हें जिस बात से रोकता है वह तो यह है कि तुम उन लोगों से दोस्ती करो जिन्होंने तुमसे दीन के मामले में जंग की है और तुम्हें तुम्हारे घरों से निकाला है और तुम्हारे निकालने में एक-दूसरे की मदद की है। उनसे जो लोग दोस्ती करें वही ज़ालिम हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-60, मुम्तहिना, आयत-8,9)

नबी (सल्ल॰) की यह दलील से भरी हुई तक़रीर जब हज़रत असमा (रज़ि॰) के सामने बयान की गई तो वे नर्म हो गईं। अब उन्होंने माँ का तोहफ़ा भी क़बूल किया और उनकी बड़ी ख़ातिर भी की।

हिम्मत और बहादुरी

हज़रत असमा (रज़ि॰) जिस तरह सब्र और मज़बूती का पहाड़ थीं और सख़ावत में दरिया दिल थीं, उसी तरह वे हिम्मत और बहादुरी का नमूना भी थीं। हमारे पेशे-नज़र चूँकि इख़्तिसार है और हज़रत असमा (रज़ि॰) की सीरत

से मक़सद सिर्फ़ याददिहानी है, इसलिए उनके बहुत से वाक़िआत को नज़रअन्दाज़ करके सिर्फ़ एक वाक़िआ बयान करते हैं।

सहाबा (रज़ि.) की तारीख़ हमें बताती है कि ज़ुबैर (रज़ि.) की औलाद हिम्मतो-बहादुरी में अपनी मिसाल आप थे और यह शर्फ़ उनको अपने बुज़ुर्गों और रिश्तेदारों से मानो विरासत में मिला था। हज़रत ज़ुबैर (रज़ि.) के बेटों में एक बहादुर और बेबाक फ़रज़न्द हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) थे। ये वही इब्ने-ज़ुबैर (रज़ि.) हैं जो मदीना के मुहाजिरों की औलाद में सबसे पहले हज़रत असमा (रज़ि.) के घर पैदा हुए और नबी (सल्ल.) ने उन्हें घुट्टी पिलाई और दुआ दी थी। ये वही हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) हैं जिनके नाना हज़रत अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) थे, जिनकी दादी हज़रत सफ़ीया (रज़ि.) नबी (सल्ल.) की फूफी और हज़रत हमज़ा (रज़ि.) की बहन थीं। ये वही हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) हैं जो बड़े हुए तो हिम्मत और बहादुरी में अपनी मिसाल नहीं रखते थे। ये वही अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) हैं जिनके डर से बनू-उमैया के ख़लीफ़ाओं की नींदें हराम हो गई थीं।

वाक़िआ कुछ इस तरह है कि हज़रत मुआविया (रज़ि.) के बाद उनका बेटा ख़लीफ़ा हुआ, लेकिन बहुत-से बुज़ुर्गों ने उसे ख़लीफ़ा मानने से इनकार कर दिया। लेकिन उसके ख़िलाफ़ कोई अमली क़दम भी नहीं उठाया। हाँ दो बुज़ुर्गों ने उसके ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द की और अमली तौर पर उससे टकरा भी गए। उनमें से एक बुज़ुर्ग हज़रत अली (रज़ि.) के बेटे और हज़रत फ़ातिमा (रज़ि.) के लाल हज़रत हुसैन (रज़ि.) थे और दूसरे बुज़ुर्ग हज़रत ज़ुबैर (रज़ि.) के सपूत और हज़रत असमा (रज़ि.) के जिगर के टुकड़े थे। हज़रत हुसैन (रज़ि.) के इस क़दम का यज़ीदी लश्कर ने कुछ ही घन्टों में फ़ैसला कर दिया। लेकिन हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) से टक्कर बराबर की थी और उनका मुक़ाबला आसान न था। बनू-उमैया को अपनी ख़िलाफ़त बचानी थी। चुनाँचे लड़ाइयों का एक सिलसिला शुरू हुआ और ख़ात्मा हज़रत ज़ुबैर (रज़ि.) की शहादत पर हुआ।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) की शहादत का वाक़िआ अपने अन्दर बड़े सबक़ रखता है। हम इस वक़्त हज़रत असमा (रज़ि.) की सीरत

के चन्द नमूने दिखाना चाहते हैं। इसलिए तमाम वाक़िआत से हटकर सिर्फ़ वही हिस्सा बयान करते हैं जो हज़रत असमा (रज़ि.) से मुताल्लिक़ है।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) की टक्कर यज़ीद से बराबर की रही। यज़ीद के बाद मरवान ख़लीफ़ा हुए। उनसे भी अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) कामयाबी के साथ निमटते रहे। मरवान के बाद उनके बेटे अब्दुल-मलिक ख़लीफ़ा हुए। अब्दुल-मलिक को एक ऐसा समझदार और अक़्लमन्द आदमी हाथ आ गया, जिसने हज़रत अब्दुल्लाह-बिन ज़ुबैर (रज़ि.) का तख़्ता उलटकर रख दिया। यह मशहूर आदमी हज्जाज-बिन-यूसुफ़ था। हज्जाज ने किस तरह कामयाबी हासिल की यह हमारे मज़मून से मुताल्लिक़ नहीं है। वाक़िआ यही है कि उसने अपनी समझदारी से कामयाबी हासिल की और हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) को इतना दबाया कि उन्हें ख़ाना-ए-काबा में पनाह लेनी पड़ी। इतना ही नहीं, उसने ऐसी तदबीर से काम लिया कि अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) के साथी उनसे कट-कटकर उससे जा मिले और वे कुछ ही वफ़ादारों के साथ रह गए। लड़ाई का अंजाम अब हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) को नज़र आ रहा था। वे ज़िरह पहनकर और हथियार लगाकर आख़िरी मुलाक़ात करने माँ की ख़िदमत में पहुँचे। हज़रत असमा (रज़ि.) की उम्र उस वक़्त सौ बरस के क़रीब थी और वे आँखों की रौशनी से महरूम हो चुकी थीं।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि.) ख़िदमत में हाज़िर हुए। लड़ाई का रुख़ और पूरा हाल बयान किया और उनसे मशवरा माँगा कि अब क्या करना चाहिए? बेटे के इस सवाल पर अबू-बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) की बेटी ने जो जवाब दिया, वह सोने के हरफ़ों से तारीख़ की किताबों में लिखा है। हम किसी बनावट के बग़ैर उसका अनुवाद नीचे लिखते हैं। हज़रत असमा (रज़ि.) ने हज़रत अब्दुल्लाह (रज़ि.) को जवाब दिया—

"ऐ बेटे! तुम अपनी मस्लहत को ख़ुद ही अच्छी तरह समझते हो। अगर तुमको अपने हक़ पर होने का यक़ीन है तो तुमको साबित क़दम रहना चाहिए। तुम मर्दों की तरह लड़ो और जान के डर से किसी ज़िल्लत को बरदाश्त न करो। इज़्ज़त के साथ तलवार खाना ज़िल्लत के सुख उठाने से

लाख दर्जे बेहतर है। अगर तुम शहीद हो गए तो मुझे ख़ुशी होगी और अगर तुम इस मिट जानेवाली दुनिया के पुजारी निकले तो तुम से ज़्यादा बुरा और कौन हो सकता है कि वह ख़ुद बरबाद हुआ और अल्लाह के बन्दों को भी बरबादी में डाला। अगर तुम यह समझते हो कि अकेले रह गए हो और अब इताअत के बिना कोई रास्ता नहीं, तो इस तरह सोचना शरीफ़ों का तरीक़ा नहीं, तुम कब तक जिओगे? बहरहाल एक-न-एक दिन मरना ही है। इसलिए अच्छा यही है कि नेक नाम होकर मरो कि मैं गर्व कर सकूँ।"

हज़रत असमा (रज़ि॰) की इस तक़रीर को फिर पढ़िए, ग़ौर कीजिए, यह तक़रीर एक माँ की है जिसे मालूम हो चुका है कि अब लड़ना मौत को पैग़ाम देना है और उनके देखते-देखते ऐसा नामवर बेटा मौत के घाट उतर जाएगा, जिसके इल्मो-फ़ज़्ल को अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि॰) और अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) ने सराहा, जो हिम्मत और बहादुरी में उस वक़्त अपनी मिसाल आप था। लेकिन वाह, माँ हो तो ऐसी हो! अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) ने माँ के ये मर्दाना बोल सुने तो कहा—

"ख़तरा है कि शाम (सीरिया) वाले मुझे क़त्ल करके तरह-तरह का अज़ाब देंगे।" माँ ने फ़रमाया, "बेटे! तुम्हारा ख़याल ठीक है, लेकिन बकरी को ज़िब्ह करने के बाद उसकी खाल निकालने और उसकी बोटियाँ क़ीमा करने से उसे कोई तकलीफ़ नहीं होती।"

अस्ल में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) ने बात इस तरह इसलिए शुरू की थी कि देखें बूढ़ी माँ किस तरह इस दुख को बरदाश्त करती हैं। इधर से इत्मीनान हुआ तो उन्होंने बढ़कर माँ के हाथों को चूमा और बोले, "अम्मा-जान! मैं भी इसी तरह सोच रहा हूँ कि हक़ के मुक़ाबले में दुनिया हक़ीर है और मैंने जो कुछ किया है इस्लाम की मज़बूती के लिए किया है।" इसके बाद अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) ने माँ के सामने इस लड़ाई के असबाब बयान किए और यज़ीद के मुक़ाबले में जो क़दम उठाए उसे हक़ बताया और आख़िर में माँ से सब्र करने को कहा तो वे बोलीं—

"ऐ बेटे! मेरा ख़याल है कि (अगर अल्लाह ने चाहा) मेरा सब्र लोगों के लिए नमूना बनेगा। अगर तूने मेरे सामने हक़ पर जान दी तो तेरी शहादत

मेरे लिए सवाब का ज़रिआ बनेगी और अगर तू कामयाब हुआ तो मुझे ख़ुशी होगी। अब अल्लाह का नाम लेकर आगे बढ़ो और देखो क्या होता है!'

यह सुनकर अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) माँ से लिपट गए। हज़रत असमा (रज़ि॰) आँखों से महरूम थीं, बेटे को गले लगाया तो हाथों ने महसूस किया कि वे ज़िरह पहने हैं, बोलीं, "बेटा! जिन लोगों को शहादत की तमन्ना होती है वे ज़िरह नहीं पहनते, इसे उतार दो! दामन को कमर में लपेटो और हमला करो!"

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर (रज़ि॰) ने ऐसा ही किया। जाकर लड़े और शहीद हो गए। शहादत के बाद हज्जाज ने अपने ज़ुल्मों की फ़हरिस्त में यह और इज़ाफ़ा किया कि रसूल (सल्ल॰) के सहाबी (रज़ि॰) की लाश लटकवा दी और दफ़न न होने दी। तीसरे दिन हज़रत असमा (रज़ि॰) अपनी लौंडी के साथ अपने बेटे की लाश के पास आईं। लाश लटकी हुई पाई। हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) की बेटी थीं। सब्र की सिल छाती पर रखी और सुननेवालों ने उनकी ज़ुबान से ये बोल सुने, "इस्लाम का यह शहसवार और फ़िदाकार अभी घोड़े से नहीं उतरा!"

हज्जाज-बिन-यूसुफ़ ज़बान और ख़िताबत के ऐतिबार से बड़ा फ़सीहो-बलीग़ था। उसकी ख़ुशबयानी की धूम थी। उसके सामने हज़रत असमा (रज़ि॰) का यह जुमला दोहराया गया तो अपने होंठ चबाने लगा। फ़ौरन उठा, हज़रत असमा (रज़ि॰) के पास आया और उनसे ज़बान लड़ाने लगा। बोला, "तुम्हारे बेटे अब्दुल्लाह ने काबा में बैठकर ख़ुदा के हुक्मों के ख़िलाफ़ क़दम उठाए। इसलिए अल्लाह ने उसपर अज़ाब नाज़िल किया।" हज़रत असमा (रज़ि॰) ने जवाब दिया, "तू झूठा है! मेरा लड़का ख़ुदा का नाफ़रमान न था। वह रोज़ेदार, तहज्जुदगुज़ार, परहेज़गार, दीनदार, माँ-बाप का फ़रमाँबरदार था। मगर सुन! मैंने नबी (सल्ल॰) से सुना है कि क़बीला 'सक़ीफ़' में से दो नालायक़ आदमी पैदा होंगे। इनमें से पहला क़ज़्ज़ाब (बहुत ज़्यादा झूठा) और दूसरा ज़ालिम होगा। तो क़ज़्ज़ाब (मुख़्तार सक़फ़ी) को तो मैं देख चुकी हूँ और दूसरा ज़ालिम इस वक़्त मेरे सामने है।"

यह जवाब सुनकर हज्जाज तिलमिलाकर रह गया। कुछ देर के बाद

बोला, "मैंने तुम्हारे बेटे के साथ यह सब किया है।" जवाब मिला, "तूने मेरे बेटे की दुनिया ख़राब की है और मेरे बेटे ने तेरी आख़िरत तबाह की।" यह भरपूर जवाब सुना तो हज्जाज बौखला गया। बौखलाहट में उसकी ज़ुबान से निकल गया, "दो निताक़वाली बुढ़िया सठिया गई है।" यह तंज़ सुना तो हज़रत असमा (रज़ि॰) ने डाँटकर कहा, "ख़ुदा के रसूल (सल्ल॰) ने सच फ़रमाया, वाक़ई तू ही वह ज़ालिम है जिसकी पेशीनगोई अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाई। ऐ ज़ालिम! जवाब सुन, हाँ मैं ही ज़ातुन्निताक़ैन हूँ! अल्लाह के नबी (सल्ल॰) ने यह कहकर मुझे पुकारा और तू है कि इस लफ़्ज़ पर मुझे ताना देता है!"

हज्जाज से कोई जवाब बन न पड़ा। अपना-सा मुँह लेकर चुपचाप चला गया। फिर अब्दुल-मलिक का हुक्म आ गया कि अब्दुल्लाह की लाश माँ को दे दी जाए। लाश का जोड़-जोड़ उखड़ चुका था। वाक़ई हज़रत असमा (रज़ि॰) अजीब दिल-गुर्दे की ख़ातून थीं कि दर्दनाक मंज़र सामने था मगर ज़बान पर अल्लाह की तारीफ़ जारी थी। लाश की नज़ाकत देखते हुए बड़ी एहतियात के साथ गुस्ल दिया गया और कफ़नाकर किसी-न-किसी तरह दफ़न किया गया।

हज़रत असमा (रज़ि॰) के बारे में अभी बहुत कुछ बाक़ी है। उनके इल्मो-फ़ज़्ल और हदीसें रिवायत करने के वाक़िआत हम जान-बूझकर नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं। आख़िर में सिर्फ़ दो बातें और पेश करनी हैं।

उन्होंने अल्लाह से दुआ माँगी थी कि जब तक बेटे की लाश न देख लूँ मुझे मौत न आए। अल्लाह ने यह दुआ क़बूल फ़रमाई। बेटे को दफ़नाकर उसी हफ़्ते के अन्दर उनकी वफ़ात हुई। पूरे सौ बरस की उम्र में मक्का ही में इन्तिक़ाल फ़रमाया।

ये थीं हज़रत असमा (रज़ि॰)। हम मुसलमान मर्द और औरतों को दावत देते हैं कि वे इस्लाम की इस जाँबाज़ ख़ातून के वाक़िआत पढ़ें और ख़ुदा से दुआ करते हैं कि हमारे अन्दर भी ऐसी बहादुर और हक़-पसन्द माएँ पैदा फ़रमा दे जिनका काम यह हो कि अपने जिगर के टुकड़ों को हक़ पर क़ुरबान होने के लिए तैयार करें। ऐ काश! आज हम ऐसी माएँ देखते!!

उम्मुल-मोमिनीन हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰)

"ऐ नबी! तुम कभी यह न पाओगे कि जो लोग अल्लाह और आख़िरत पर ईमान रखनेवाले हैं वे उन लोगों से मुहब्बत करते हों जिन्होंने अल्लाह और उसके रसूल की मुख़ालफ़त की है, चाहे वे उनके बाप हों या उनके बेटे या उनके भाई या उनके ख़ानदानवाले। ये वे लोग हैं जिनके दिलों में अल्लाह ने ईमान जमा दिया है और अपनी तरफ़ से एक रूह के ज़रिए उनको ताक़त दी। वह उनको ऐसी जन्नतों में दाख़िल करेगा, जिनके नीचे नहरें बहती होंगी। उनमें वे हमेशा रहेंगे। अल्लाह उनसे राज़ी हुआ, वे अल्लाह से राज़ी हुए। वे अल्लाह की पार्टी के लोग हैं। ख़बरदार रहो! अल्लाह की पार्टीवाले ही कामयाब होनेवाले हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-58 मुजादला, आयत-22)

जब मैं सूरा मुजादला की आख़िरी आयत पढ़ता हूँ। जिसका तर्जमा ऊपर दिया गया है तो एक-एक करके वे तमाम बुज़ुर्ग याद आने लगते हैं जिन्होंने इस्लाम क़बूल किया और फिर अपने इस्लाम पर चट्टान की तरह जमे रहे।

इन बुज़ुर्गों में सारी दुनिया के मुसलमानों की माँ हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) का नाम ख़ासतौर पर नज़र आता है। हमारी इन प्यारी माँ की ज़िन्दगी सूरा मुजादला की 22वीं आयत की ज़िन्दा ताबीर नज़र आती है। उम्मुल-मोमिनीन ने वाक़ई इस्लाम के मुक़ाबले में न अपने मुशरिक बाप की परवाह की, न भाइयों की और न शौहर की। नीचे हम अपनी प्यारी माँ के

मुख़्तसर हालात बयान करते हैं। इनसे हमारी बात की पूरी ताईद होती है।

उम्मुल-मोमिनीन हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) का हाल बयान करने से पहले हम ज़रूरी समझते हैं कि उनके ख़ानदान का तआरूफ़ करा दें ताकि यह सब पढ़नेवाला अच्छी तरह समझ ले कि उम्मुल-मोमिनीन (रज़ि॰) कितने ऊँचे ख़ानदान से ताल्लुक़ रखती थीं और उस ख़ानदान का अरब में क्या मक़ाम था। और फिर जब वे इस्लाम में दाख़िल हुईं तो कैसी ग़रीबुल-वतनी की ज़िन्दगी से वास्ता पड़ा। फूलों की सेज छोड़कर काँटों में किस तरह साबित- क़दमी से अपने ईमान को लिए पहाड़ की तरह अड़ी रहीं।

सारे अरब में क़ुरैश का ख़ानदान तमाम ख़ानदानों में इज़्ज़तवाला माना जाता था। इस ख़ानदान को अल्लाह ने बड़ी बरकत दी। आगे चलकर इसकी कई नस्लें फैलीं। इन सारी नस्लों में बनू-हाशिम और बनू-उमैया सबसे ज़्यादा मशहूर हुए। बनू-उमैया में एक ऐसा आदमी गुज़रा है जिसने अपने ज़माने में सारे क़ुरैश की सरदारी हासिल कर ली थी। यह था मशहूर बहादुर हर्ब-बिन-उमैया अरब की मशहूर लड़ाई (जंगे-फ़िजार) में क़ुरैश का सेनापति इसी मशहूर बहादुर का एक बेटा था। बाप की तरह बहादुर। बाप जैसी समझ-बूझ रखनेवाला। बाप ही की तरह क़ुरैश की सरदारी हासिल की थी। यह नामवर बेटा था 'अबू-सुफ़ियान'। अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) क़ुरैश के वे मशहूर सरदार हुए हैं जो अपने कुफ़्र के ज़माने में इस्लाम की राह के सबसे बड़े पत्थर बने रहे। कुफ़्र और इस्लाम की एक मशहूर लड़ाई जो उहुद के मैदान में हुई और जिसमें मुसलमानों को बहुत ज़्यादा जानी नुक़सान बरदाश्त करना पड़ा, इस लड़ाई में क़ुरैश के अज़ीम लश्कर के सेनापति अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) ही थे। इससे अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) के ऊँचे मरतबे का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। उम्मुल-मेमिनीन हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) इसी ऊँचे मरतबेवाले बाप की बेटी थीं। बाप भी रईसे-आज़म, दादा भी रईसे-आज़म, ख़ानदान भी ऐसा जिसकी सारे अरब में धूम, फिर यह कि हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) की शादी ऐसे ख़ानदान में हुई जो बनू-उमैया की टक्कर का था। वह ख़ानदान अरब में 'बनू-असद' के नाम से मशहूर था। बनू-असद के मशहूर फ़रज़न्द उबैदुल्लाह से इनकी शादी हुई जो हर्ब-बिन-उमैया

का दोस्त था।

ऐसे मालदार की बेटी और इसी की टक्कर के ख़ानदान की बहू किस शान से रह रही होगी! अगर हम कहें कि हर वक़्त फूलों से खेलती होगी तो बेजा न होगा। लेकिन ठीक उस वक़्त जब उम्मे-हबीबा (रज़ि.) तरह-तरह की नेमतों के मज़े लूट रही थीं, एक आवाज़ मक्का की गलियों में गूँजी, "अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं और मुहम्मद उसके रसूल हैं" तो यही फूलों से खेलनेवाली 'उम्मे-हबीबा' (रज़ि.) आवाज़ सुनने के साथ पुकारनेवाले की तरफ़ बढ़ीं और जब इस पुकारनेवाले मुहम्मद (सल्ल.) को देखा तो पुकार उठीं—

"मैं गवाही देती हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं और मैं गवाही देती हूँ कि मुहम्मद उसके बन्दे और रसूल हैं।"

और जब वापस हुईं तो अपने शौहर उबैदुल्लाह-बिन-जह्श को भी इस्लाम के क़दमों में ला गिराया।

जिस वक़्त हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि.) मुसलमान हुईं वह ज़माना ऐसा था जब क़ुरैशे-मक्का इस्लाम का नाम सुनना गवारा न कर सकते थे। इस्लाम क़बूल करनेवालों पर ऐसे-ऐसे ज़ुल्म तोड़ रहे थे कि उनका ज़िक्र ही दिल हिला देने के लिए काफ़ी है। क़ुरैश के ग़ैरतमन्दों में एक अजीब ग़ैरत यह देखी गई कि अगर किसी बड़े ख़ानदान का कोई आदमी इस्लाम क़बूल करता था तो उस ख़ानदान की अपनों में नाक कट जाती थी। इस ख़ानदान के लोग अपनों में अपना वक़ार क़ायम रखने के लिए इस तरह कोशिश करते कि अपने ख़ानदान के इस्लाम क़बूल करनेवाले को किसी-न-किसी तरह अपने दीन में वापस ले आएँ और वापस लाने के लिए उन्हें अपने आदमी पर वे ज़ुल्म ढाने पड़ते जिनके देखने के लिए बड़े दिल-गुर्दे की ज़रूरत होती थी। कोई तो अपने ख़ानदान के इस्लाम क़बूल करनेवाले फ़र्द को खाल में बन्द करके अरब की रेत पर डाल देता, कोई अँधेरी कोठरी में बन्द करके धुवाँ पहुँचाता और कोई क़ैद-बन्द और मार-धाड़ से काम लेता। मक़सद यह था कि किसी-न-किसी तरह मजबूर करके इस्लाम से जुदा कर दें। हज़रत

उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) भी इसी आज़माइश की भट्टी में तपाई गईं। मगर उनका ईमान था कि कोई मज़बूत चट्टान, जो आग की बड़ी-से-बड़ी गर्मी से भी न पिघल सकी।

नबी (सल्ल॰) सारे ज़ुल्म देखते थे और ख़ुदा से दुआ किया करते थे कि इन ग़रीबों को कहीं पनाह लेने की जगह मिल जाए। आख़िर आप (सल्ल॰) ने मश्वरा दिया कि जो मुसलमान चाहें हबशा की तरफ़ हिजरत कर जाएँ। नबी (सल्ल॰) के इशारे पर जो बहुत-से लोग हबशा की तरफ़ चल खड़े हुए, उनमें हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) और उनके शौहर उबैदुल्लाह भी थे। अगर वे चाहतीं तो ज़बान से ज़रा कह देतीं कि मुझे इस्लाम से कोई सरोकार नहीं, तो फिर उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) वही उम्मे-हबीबा होतीं जो कभी सारे ख़ानदान की प्यारी थीं। मगर नहीं, उन्होंने इस्लाम के लिए माँ-बाप, ख़ानदान, वतन, आराम और सुख सबकुछ ठुकरा दिया और ग़रीबुल-वतनी की ज़िन्दगी इख़्तियार कर ली। हमने बड़े खुले दिल के साथ अपनी प्यारी माँ का हाल पढ़ा है। ख़ुदा की क़सम! हमें कोई कहीं ऐसा लफ़्ज़ उनकी सीरत में न मिला जिससे किसी शिकायत का पता चलता। हमने यह तो पढ़ा है कि हबशा पहुँचकर जब उनके शौहर ने इस्लाम छोड़कर ईसाई धर्म अपना लिया तो उनके चेहरे पर कोई मलाल न ज़ाहिर हुआ और उन्होंने उस अजनबी वतन में शौहर को भी छोड़ दिया और राज़ी-ख़ुशी होकर वहीं ज़िन्दगी के तारीक दिन गुज़ारने लगीं। इस अजनबी वतन में जबकि बड़े-बड़े पुकारने लगते हैं कि—

बैठ जाता हूँ जहाँ छाँव घनी होती है,
हाए क्या चीज़ ग़रीबुल-वतनी होती है।

ग़ौर करने का मक़ाम है कि इस अजनबी वतन में एक छाँव (शौहर के रूप में) थी वह भी न रही।

अब सोना तपकर खरा हो चुका था। आख़िर अल्लाह की रहमत जोश में आई और हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) को इसी दुनिया में वह एज़ाज़ हासिल हुआ जिससे बढ़कर कोई दूसरा एज़ाज़ हो ही नहीं सकता था। उम्र तक़रीबन 37 साल हो चुकी थी। यहाँ जनाब प्यारे नबी (सल्ल॰) मक्का से

हिजरत फ़रमाकर मदीना तशरीफ़ ले जा चुके थे। आप (सल्ल॰) ने उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) का हाल सुना तो हज़रत अम्र-बिन-उमैया ज़मरी (रज़ि॰) को पैग़ामे-निकाह देकर हबशा रवाना किया। वहाँ हबशा का राजा मुहाजिर मुसलमानों से मिलकर इस्लाम क़बूल कर चुका था। अम्र-बिन-उमैया ज़मरी (रज़ि॰) उसके पास पहुँचे। हबशा के राजा ने अपनी लौंडी के ज़रिए पैग़ामे-निकाह हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) तक पहुँचाया। उन्होंने क़बूल फ़रमा लिया। नबी (सल्ल॰) की तरफ़ से हबशा का राजा वकील बना और हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) की तरफ़ से ख़ालिद-बिन-सईद (रज़ि॰) वकील मुक़र्रर हुए, निकाह हो गया और फिर उम्मुल-मोमिनीन बनकर हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) एक जहाज़ पर सवार हुईं और उस वक़्त मदीना पहुँची जब प्यारे नबी (सल्ल॰) ख़ैबर की मुहिम पर थे।

उम्मुल-मोमिनीन हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) इस्लाम पर इतनी जमी हुई थीं कि अपने अज़ीज़ क़रीबी ग़ैर-मुस्लिम तक की परवाह न करती थीं। कुछ दिनों के बाद मुशरिक बाप, कौन? क़ुरैश के रईसे-आज़म अबू-सुफ़ियान किसी काम से मदीना आए। बेटी को देखने उनके घर गए। घर जाकर चाहा कि प्यारे नबी (सल्ल॰) के बिस्तर पर बैठें कि हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) ने बिस्तर उलट दिया। बाप सख़्त नाराज़ हुए, बोले, "मेरे मुक़ाबले में बिछौना तुझको इतना अज़ीज़ है?" जवाब दिया, "यह बिस्तर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का है, आप शिर्क में गिरफ़्तार हैं मैं अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के बिस्तर को आपके नापाक क़दमों से गन्दा नहीं कर सकती।"

यह जवाब सुनकर बाप की आँखें फटी-की-फटी रह गईं, थे ग़ैरतदार आदमी, बोले, "तू मेरे बाद बहुत-सी ख़राबियों में गिरफ़्तार हो गई है।" यह सब सुना फिर भी उम्मुल-मोमिनीन नर्म न हुईं और अबू-सुफ़ियान को ज़मीन पर बैठना पड़ा।

इसके बाद उम्मुल-मोमिनीन उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) की सीरत के तहत बहुत-से वाक़िआत तारीख़ों में महफ़ूज़ हैं। इन सबका निचोड़ यह है कि हर वक़्त अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के इशारों पर नज़र रखती थीं और जो बात पा जातीं उसपर सख़्ती और पाबन्दी से अमल करती थीं। एक बार नबी

(सल्ल॰) से सुना कि जो शख़्स बारह रकअत नफ़्ल नमाज़ रोज़ाना पढ़ेगा उसके लिए जन्नत में ऐसा-और-ऐसा घर बनाया जाएगा। बस उसी दिन से मामूल बना लिया और उम्र-भर बारह रकअत नफ़्ल नमाज़ की पाबन्द हो गईं।

73 बरस की उम्र में इन्तिक़ाल फ़रमाया। इन्तिक़ाल के वक़्त उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आयशा (रज़ि॰) को बुलाया और कहा—

"हम दोनों नबी (सल्ल॰) की बीवियाँ रहीं। इनसान होने के तक़ाज़े और सौकन होने की वजह से मुझसे कोई ग़लती हो गई हो तो माफ़ कर दीजिए और मेरे लिए मग़फ़िरत की दुआ कीजिए!" हज़रत आयशा (रज़ि॰) ने दुआ के लिए हाथ उठाए तो बोलीं, "आपने मुझे खुश कर दिया अल्लाह आपको खुश करे।"

उनकी सीरत में लिखा है कि वे बड़ी और तमाम इनसानी ख़ूबियों में कामिल थीं। इससे मालूम होता है कि उन्होंने प्यारे नबी (सल्ल॰) से क्या कुछ न सीखा होगा। बहुत-सी हदीसें उनसे रिवायत की गई हैं। उनसे रिवायत करनेवालों में बड़े-बड़े सहाबा और बुज़ुर्ग लोग शामिल हैं। अल्लाह हमें तौफ़ीक़ दे कि हम अपनी प्यारी माँ के नक़्शे-क़दम पर चलें और उस पर साबित कदम रहें।

हज़रत हिन्द-बिन्ते-उत्बा (रज़ि०)

एक चट्टान जिसे इस्लाम ने तोड़ा

अल्लाह तआला जिन बहुत-सी ख़ूबियों का मालिक है कोई उनकी हद और इन्तिहा को नहीं पा सकता। न तो अल्लाह के क़हरो-ग़ज़ब का अन्दाज़ा ही लगाया जा सकता है और न उसके रहमो-करम की हदबन्दी की जा सकती है। अल्लाह तआला ने अपनी सिफ़ात (ख़ूबियों) का मज़हर (नमूना) नबियों को बनाया। नबियों (अलैहि०) में जनाब प्यारे नबी मुहम्मद (सल्ल०) के हालात जिस तफ़्सील से हमें मिलते हैं इस तरह किसी दूसरे नबी के हालात हमारे सामने नहीं। नबी (सल्ल०) के बहुत-से वाक़िआत ऐसे हैरान कर देनेवाले हैं कि जब हम उन्हें पढ़ते हैं तो यह सोचने लगते हैं कि एक इनसान ऐसा भी कर सकता है! मिसाल के तौर पर मक्का की फ़त्ह के वक़्त आप (सल्ल०) ने जिस तरह माफ़ी और करम से काम लिया, अस्ल में वह तमाम-का-तमाम बहुत ही हैरान कर देनेवाला है। उस वक़्त आप (सल्ल०) के सामने आप (सल्ल०) के बदतरीन दुश्मन सिर झुकाए खड़े थे। इन्तिज़ार में थे कि नबी (सल्ल०) की ज़बान से क्या हुक्म सादिर होता है। लेकिन अल्लाह के नबी (सल्ल०) ने सबको माफ़ कर दिया। सैयदुश्शोहदा हज़रत हमज़ा (रज़ि०) आप (सल्ल०) के चचा थे और इस्लाम के सरफ़रोशों में जिनका मक़ाम ऊँचे-से-ऊँचा है, उन्हीं हमज़ा (रज़ि०) के क़ातिल वहशी जब माफ़ी माँगने आए तो अल्लाह के नबी (सल्ल०) ने वाक़ई माफ़ कर दिया। हालाँकि चचा की शहादत का आप (सल्ल०) के दिल पर बेहद सदमा था फिर भी मुहब्बत के साथ वहशी से फ़रमाया, "देखो, तुम्हें माफ़ तो कर दिया गया है लेकिन अब मेरे सामने मत आना।" शायद यह कहने का मक़सद यह हो कि कहीं इनसान होने की वजह से ज़बान से कोई लफ़्ज़ ऐसा न निकल जाए जो वहशी की आख़िरत के लिए नुक़सानदेह हो या फिर यह कि चचा की शहादत से नबी (सल्ल०) के दिल पर जो चोट पड़ी थी, वह ताज़ा हो जाए।

देखा आपने! ऐसे आदमी को माफ़ कर दिया और आज हम उन्हीं वहशी को हज़रत वहशी (रज़ि॰) कहते हैं। क्यों...? इसलिए कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) उनसे राज़ी हो गए। इसी तरह हज़रत वहशी (रज़ि॰) से ज़्यादा मुजरिम एक ऐसी औरत को माफ़ कर दिया गया जिन्होंने हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की शहादत के बाद उनकी लाश का मुसला (अनादर) किया था। नाक-कान क़ाटे, हार बनाया और गले में पहना। उनके दिल की सख़्ती को फिर भी तसल्ली नहीं हुई तो सीना चीरकर कलेजा निकाला और चाहा कि चबाकर निगल जाएँ लेकिन निगला न गया और मुँह से उगल दिया। उन्हें भी नबी (सल्ल॰) ने माफ़ कर दिया और फिर आज हम उसी औरत या उन्हीं ख़ातून को बिलकुल उसी तरह याद करते हैं जिस तरह एक सहाबी को याद किया जाता है। हम उनका नाम इस एहतिराम से लेते हैं 'हज़रत हिन्द-बिन्ते-उत्बा (रज़ि॰)'। हमारे इस तरह नाम लेने की वजह यह है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने उनको माफ़ कर दिया और उनसे राज़ी हो गए।

आज हम इन्हीं हज़रत हिन्द (रज़ि॰) का मुख़्तसर हाल बयान करते हैं और इससे हमारा मक़सद यह है कि इनके वाक़िआत जानकर हम ख़ुद सबक़ हासिल करें।

हज़रत हिन्द-बिन्ते-उत्बा (रज़ि॰) क़ुरैश के सबसे बड़े रईस उत्बा की बेटी थीं। यह उत्बा वही शख़्स है जिसे क़ुरैश ने प्यारे नबी (सल्ल॰) के पास सुलह के लिए भेजा था कि आप (सल्ल॰) अपनी दावत में नरमी और लचक़ पैदा कर लें और इसके बदले में चाहें तो उन्हें सरदारी दे दी जाए, चाहें तो इतनी दौलत दे दी जाए कि सात पुश्तों तक काफ़ी हो या चाहें तो अरब की सबसे बड़ी हसीना आप (सल्ल॰) की ख़िदमत में पेश कर दी जाए।

यह उत्बा वही उत्बा है जो जंगे-बद्र में मुशरिकों के लश्कर का सिपहसालार बन गया था और अपने को इतने ऊँचे दर्जे का समझता था कि अपने से कमतर सिपाही से लड़ना पसन्द नहीं करता था। यही उत्बा प्यारे नबी (सल्ल॰) के बहादुर चचा हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) के हाथ से मारा गया। यही उत्बा हज़रत हिन्द (रज़ि॰) का बाप था। आप समझ लीजिए कि ऐसे बाप की तरबियत में जो लड़की पले बढ़ेगी, वह किस दिलो-दिमाग़ की औरत

बन सकती है? सोने पर सुहागा यह कि शादी भी हुई तो ऐसे आदमी से जो मिज़ाजो-किरदार के ऐतिबार से दूसरा उत्बा था यानी अबू-सुफ़ियान- बिन-हर्ब अरब के वे मशहूर बहादुर शख़्स हुए हैं जो अरब की मशहूर लड़ाई जंगे-फ़िजार में क़ुरैश के सिपहसालारे-आज़म थे। ग़ौर कीजिए, बाप वैसा और शौहर ऐसा। अब इस शराब के दो आतिशा होने में कौन शक कर सकता है?

हक़ीक़त भी यही है कि हज़रत हिन्द-बिन्ते-उत्बा (रज़ि॰) का दिल चट्टान की तरह सख़्त था। जब तक वे इस्लाम न लाईं, मुसलमानों के मुक़ाबले में उनकी बदतरीन दुश्मन रहीं। फिर जब इस्लाम क़बूल कर लिया तो दिल की सख़्ती का रुख़ कुफ़्र की तरफ़ हो गया और वे कुफ़्र की मुख़ालफ़त में चट्टान की तरह साबित हुईं। हज़रत हिन्द (रज़ि॰) के ये दोनों रुख़ दिलचस्प होने के साथ-साथ इबरत दिलानेवाले भी हैं। एक तरबियत पानेवाला बड़ी नसीहत हासिल कर सकता है। यही वजह है कि हमने हज़रत हिन्द (रज़ि॰) को अपने ख़यालात ज़ाहिर करने के लिए चुना।

हम ऊपर यह बता ही चुके हैं कि बद्र की लड़ाई में मक्का का रईसे-आज़म उत्बा हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की तलवार से जहन्नम रसीद हुआ। जंगे-बद्र में मक्का के और भी बहुत-से बड़े-बड़े लोग मारे गए थे। चुनाँचे इनके बाद क़ुरैश के सबसे बड़े रईस अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) हुए। इधर अबू-सुफ़ियान ने जंगे-बद्र का बदला लेने की क़सम खाई, उधर उनकी बीवी हिन्द ने बाप के क़ातिल हमज़ा (रज़ि॰) से इन्तिक़ाम लेने की ठानी।

जंगे-बद्र के बाद दूसरे साल ही जब मक्का से बड़े लाओ-लश्कर के साथ अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) सिपहसालार बनकर मदीना की तरफ़ चले तो हिन्द (रज़ि॰) भी बहुत-सी औरतों के साथ चलीं। हिन्द (रज़ि॰) ने मक्का के मुशरिकों की हिमायत में इस लड़ाई (जंगे-उहुद) में जिस जोश और ग़ैज़ो-ग़ज़ब का मुज़ाहरा किया, उससे दिल काँप जाता है।

जिस वक़्त मक्का के मुशरिकों और मदीना के मुसलमानों का मुक़ाबला हुआ, उस वक़्त हिन्द (रज़ि॰) रजज़ीया (लड़ाई पर उभारनेवाले) और

जोशीली नज़्में गा-गाकर मुशरिकों को मारने और मरने पर उभार रही थीं। उनके जोश का अन्दाज़ा उनके शेअ्र से लगाया जा सकता है जो दूसरी औरतों के साथ अरब के मशहूर साज़ 'दफ़' पर गा रही थीं। नमूने के तौर पर सिर्फ़ दो शेअ्र का तर्जमा नीचे दिया जाता है—

हम आसमान के तारों की बेटियाँ हैं
हम क़ालीनों पर चलने वालियाँ हैं
अगर तुम आगे बढ़कर लड़ोगे तो
हम तुम से गले मिलेंगे।
और पीछे क़दम हटाया तो हम
तुम से अलग हो जाएँगे।

इस लड़ाई में हिन्द (रज़ि॰) की वह दिली मुराद पूरी हो गई जो हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की शहादत के लिए वह माँग रही थीं। जैसे ही सुना कि हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) ज़ख़्मी होकर घोड़े से गिरे और उनकी रूह जिस्म से निकल गई, वे हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की लाश की तरफ़ बढ़ीं। लाश का मुसला किया। कलेजा निकालकर चबाया और इस तरह अपने दिल को तसकीन दी। हिन्द (रज़ि॰) का यह इन्तिक़ाम इतना दर्दनाक था कि बड़ों-बड़ों से देखा न जाता था। ख़ुद उनके शौहर अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) ने जब यह सुना तो बोले कि "मैंने यह हुक्म नहीं दिया था लेकिन हिन्द ने जो कुछ किया उससे मुझे रंज नहीं हुआ।"

हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) नबी (सल्ल॰) के चचा थे। अरब के मशहूर बहादुर पहलवान थे। इस्लाम के एक बड़े हिमायती और सहारा देनेवाले थे। सच्चे मुसलमान थे। नबी (सल्ल॰) के दूध-शरीक भाई भी थे। साथ खेलते थे उम्र में साल-सवा-साल ही का फ़र्क़ था। रिश्ते के ऐतिबार से भी काफ़ी मुहब्बत करते थे। फिर यह कि ग़रीबों के हमदर्द और बड़े फ़ैयाज़ इनसान थे। उनकी ख़ूबियों ने नबी (सल्ल॰) को उनका मतवाला बना दिया था। इन्हीं हज़रत हमज़ा (रज़ि॰) की दिल हिला देनेवाली हालत देखी तो आप (सल्ल॰) को कितना ग़म हुआ, इसका अन्दाज़ा इस क़सम से हो सकता है जो आप (सल्ल॰) ने इस मौक़े पर खाई, "ख़ुदा की क़सम! एक हमज़ा का

बदला सत्तर ग़ैर-मुस्लिमों से लूँगा!" लेकिन फ़ौरन अल्लाह ने ऐसा बदला लेने से मना फ़रमाया। आप (सल्ल॰) ने सब्र किया और क़सम का कफ़्फ़ारा दे दिया।

हिन्द की यह संगदिली हरगिज़ इस क़ाबिल न थी कि उन्हें माफ़ किया जाता। लेकिन जब नबी (सल्ल॰) ने मक्का फ़त्ह किया तो अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) को भी माफ़ कर दिया और हिन्द (रज़ि॰) को भी। हिन्द (रज़ि॰) को जब इस माफ़ी की ख़बर मिली तो वे हैरान रह गईं। अब दिल ने करवट बदली, अपने किए पर नादिम हुईं, शर्म के मारे चेहरे पर नक़ाब डालकर नबी (सल्ल॰) की ख़िदमत में आईं। लेकिन इस शान की औरत को आप (सल्ल॰) कैसे न पहचान लेते! आप (सल्ल॰) ने पहचान लिया तो हज़रत हिन्द (रज़ि॰) ने कहा कि मैं बैअत करते वक़्त आपसे सख़्ती के साथ बात करूँगी। नबी (सल्ल॰) ने मंज़ूर फ़रमाया। इसके बाद यह बातचीत हुई।

हिन्द, "ऐ अल्लाह के रसूल! आप हमसे किन बातों पर बेअत लेते हैं...?"

नबी (सल्ल॰), "ख़ुदा के साथ किसी को शरीक न करना!"

हिन्द, "यह इक़रार आपने मर्दों से नहीं लिया। फिर भी हमें मंज़ूर है।"

नबी (सल्ल॰), "चोरी न करना!"

हिन्द, "मैं अपने शौहर अबू-सुफ़ियान के माल में से दो-चार आने कभी ले लिया करती हूँ। मालूम नहीं जाइज़ है या नहीं...?"

नबी (सल्ल॰), "औलाद को क़त्ल न करना...!"

हिन्द, "हमने अपने बच्चों को पाला था, बड़े हुए तो जंगे-बद्र में आपने उनको मार डाला, अब आप और वे आपस में समझ लें!"

हज़रत हिन्द (रज़ि॰) ने इस ढिठाई के साथ बेअत की, लेकिन जब देखा कि नबी (सल्ल॰) के चेहरे पर बल तक नहीं आया तो बोलीं, "ऐ अल्लाह के रसूल! इस वक़्त से पहले मैं आपको अपना सबसे बड़ा दुश्मन समझती थी, लेकिन अब आपसे बढ़कर मेरा कोई महबूब नहीं...!"

बैअत के बाद हिन्द (रज़ि॰) जब घर पहुँचीं तो अब वे वह हिन्द न थीं जो पहले थी। घर में इबादत के लिए जो बुत लगा रखा था उसे उठाकर पटक दिया। उसपर लानत भेजी और कहा, "तेरी ही वजह से हम सब गुमराही में पड़े थे।"

मुसलमान होने के बाद उन्होंने अपने ईमान को पुख़्ता-से-पुख़्ता किया, जितनी नफ़रत उनको इस्लाम से थी अब उसकी जगह कुफ़्र ने ले ली। चुनाँचे एक ऐसा ही वलवला जो कुफ़्र की हालत में उहुद की लड़ाई के वक़्त उनमें जोश मार रहा था, वैसा ही वलवला जंगे-यरमूक के मौक़े पर देखा गया।

हज़रत उमर (रज़ि॰) की ख़िलाफ़त के ज़माने में यरमूक की लड़ाई सख़्ततरीन जंगों में से एक थी। इस जंग में हज़रत अबू-सूफ़ियान (रज़ि॰), उनकी बीवी हिन्द (रज़ि॰) और उनके बेटे यज़ीद-बिन-अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) बड़े जोश के साथ शरीक हुए। इस लड़ाई में एक वक़्त ऐसा भी आया कि मुसलमानों के एक दस्ते ने कम हिम्मती दिखाई और उन्होंने पीछे क़दम हटाया तो हज़रत हिन्द (रज़ि॰) ने तमाम औरतों के साथ ख़ेमों की चौबें हाथों में लेकर डाँटा और कहा कि अगर तुम पीछे हटे तो हम इन चौबों से तुम्हें मारेंगे। उनके इस तरह ग़ैरत दिलाने से उन पस्त हिम्मत मुसलमानों के क़दम जमे और फिर उन्होंने यह लड़ाई जीत ली।

हज़रत हिन्द (रज़ि॰) बड़े बाप की बेटी और एक रईस की बीवी थीं। इसलिए सख़ावत में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेतीं। मुसलमान होने के बाद तो बहुत ज़्यादा ख़ैरात करतीं। कुफ़्र के ज़माने में इस्लाम के मुक़ाबले में जो ताक़त ख़र्च कर चुकी थीं, उसे याद करके रोतीं और अपने रब से माफ़ी माँगा करती थीं। खुद उनके वालिद उत्बा उनसे अहम मामलों में मशूवरा किया करते थे।

हज़रत अबू-सुफ़ियान (रज़ि॰) से शादी उन्होंने अपनी मर्ज़ी और बाप की इजाज़त पाकर की थी। हज़रत उसमान (रज़ि॰) की ख़िलाफ़त के ज़माने में वफ़ात पा गईं। हज़रत मुआविया (रज़ि॰) इन्हीं हज़रत हिन्द (रज़ि॰) के बेटे थे जो आगे चलकर मशहूर फ़ातेह और मुसलमानों के ख़लीफ़ा हुए।

हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰)

हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) अरब की मशहूर मरसियागो शायरा गुज़री हैं। उन्होंने जाहिलियत का ज़माना भी देखा और फिर मुसलमान होकर इस्लामी हुकूमत और इस्लामी नज़रिए की बरकतें भी देखीं। उनकी जाहिलियत की ज़िन्दगी और इस्लामी ज़िन्दगी पर नज़र डालने से साफ़ पता चलता है कि इनसान के अक़ीदे बदलने के बाद उसके अन्दर कितना ज़बरदस्त इन्क़िलाब आता है और फिर इसी से इस्लामी और ग़ैर-इस्लामी ज़िन्दगी का नुमाँया फ़र्क़ हमारे सामने आ जाता है और हम इस नतीजे पर आसानी से पहुँच जाते हैं कि इस्लामी तालीम की वजह से एक इनसान कितना साबिरो-शाकिर हो जाता है। नीचे हम हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) की ज़िन्दगी के दोनों रुख़ बहुत ही इख़्तिसार से पेश करते हैं।

पहला रुख़

हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) के मुसलमान होने से पहले का वाक़िआ है। उनके दो भाई थे। एक का नाम मुआविया और दूसरे का सख़्र था। ये दोनों भाई ख़न्सा को बेहद प्यारे थे। उन्हें दोनों से मुहब्बत थी लेकिन सख़्र के इल्म, उसकी सख़ावत, बहादुरी और दूसरी ख़ूबियों ने ख़न्सा को ज़्यादा गिरवीदा कर रखा था।

जाहिलियत के ज़माने में अरब के अन्दर क़बीलों के बीच आए दिन तलवारें चला करती थीं। एक बार क़बीले बनू-असद और उनके क़बीले में ठन गई। घमासान की लड़ाई हुई। उनका एक भाई मुआविया इस लड़ाई में मारा गया और दूसरा भाई दुश्मन के नेज़े से ज़ख़्मी होकर घर पर आकर पड़ गया। एक भाई (मुआविया) के ग़म की मारी बहन ने दूसरे भाई को मौत से बचाने के लिए अपनी सेहत की परवाह न की। दिलो-जान से उसकी देखभाल में लग गईं। लेकिन सख़्र की ज़िन्दगी के दिन पूरे हो चुके थे वह

बच न सका और पूरे एक साल तक बहन से तीमारदारी की ख़िदमात लेकर इस दुनिया से चल बसा। इस हादसे ने बहन को दीवाना बना दिया। ख़न्सा दिन-रात भाई की याद में रोतीं। वे एक बहुत ही फ़सीहो-बलीग़ शायरा थीं। भाई की याद में मरसिये उनकी ज़बान पर जारी हो गए। इन मरसियों को वे आम मजमों में दिल की गहराई और लै के साथ पढ़तीं। खुद रोतीं और सुननेवालों को रुलातीं। वे अपने भाई की याद में रोते वक़्त अपना सीना पीटतीं, सिर को पत्थरों से टकरातीं, अपने कपड़े फ़ाड़तीं और ऐसे दर्दनाक अन्दाज़ में रोना रोतीं कि दुश्मनों को उनपर तरस आने लगता।

हज़रत खन्सा (रज़ि.) के ये मरसिये अरबी अदब की जान समझे जाते हैं। आज भी अरबी अदब में इन मरसियों का मक़ाम बहुत ऊँचा समझा जाता है। अरब के तमाम नामवर शायरों ने हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) को मरसियों का बादशाह तसलीम किया है।

दूसरा रुख़

इसके बाद एक दिन वह भी आया कि वे अपने क़बीले के वफ़्द के साथ प्यारे नबी (सल्ल.) की ख़िदमत में आईं और मुसलमान हो गईं। उनसे शेअ्र सुनाने की फ़रमाइश की गई। वे देर तक शेअ्र सुनाती रहीं। खुद नबी-ए-करीम (सल्ल.) से बढ़कर उस वक़्त फ़सीहो-बलीग़ कौन था...? लेकिन आप (सल्ल.) भी हज़रत ख़न्सा की फ़साहतो-बलाग़त पर ताज्जुब का इज़हार फ़रमाते रहे।

हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) नबी (सल्ल.) के बाद मदीना आया करती थीं। वे उम्मुल-मोमिनीन हज़रत आयशा (रज़ि.) की ख़िदमत में हाज़िरी देतीं। हज़रत आयशा (रज़ि.) उनके मरसिये सुनतीं और सब्र की नसीहत करतीं।

हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) हज़रत उमर (रज़ि.) की ख़िलाफ़त के ज़माने में भी आया करती थीं। हज़रत उमर (रज़ि.) के एक भाई ज़ैद-बिन-ख़त्ताब (रज़ि.) बहुत नेक और परहेज़गार बुज़ुर्ग थे। उनके तक़वा की वजह से हज़रत उमर (रज़ि.) उनको बहुत महबूब रखते थे। वह एक लड़ाई में शहीद हो गए तो हज़रत उमर (रज़ि.) को बड़ा सदमा हुआ। हज़रत ख़न्सा (रज़ि.)

ताज़ियत के लिए आईं। हज़रत उमर (रज़ि.) ने उनसे ज़ैद का मरसिया लिखने के लिए कहा। इसके जवाब में हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) ने बहुत ही फ़सीहो-बलीग़ और बहुत सच्ची बात कही। उन्होंने कहा—

"ख़ुदा की क़सम! मैं सख़्र और मुआविया पर हरगिज़ न रोती अगर उनकी मौत ज़ैद की तरह होती।"

यह सुनकर हज़रत उमर (रज़ि.) फड़क उठे, फ़रमाया, "ख़न्सा से बेहतर मेरे भाई की ताज़ियत किसी ने नहीं की।"

बात साफ़ है, हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) के दोनों भाई कुफ़्र की हालत में मारे गए थे और हज़रत ज़ैद (रज़ि.) ने शहादत पाई थी।

देखा आपने! अब जो हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) ने इस्लाम क़बूल करके आख़िरत की कामयाबी को अपनी ज़िन्दगी का नस्बुल-ऐन बनाया तो अब वे अपने भाइयों के लिए क्या रोना रोतीं! इस आख़िरत की कामयाबी की नसीहत वे अपनी औलाद को किया करती थीं और उन्हें शहादत के लिए उकसाया करती थीं।

हज़रत उमर (रज़ि.) की ख़िलाफ़त के ज़माने में क़ादसीया की जंग बड़ी मशहूर जंगों में से एक है। इस जंग में हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) अपने चार जवान बेटों के साथ शरीक हुईं। इस लड़ाई में मुसलमान लश्कर के सिपहसालार मशहूर सहाबी हज़रत साद-बिन-अबी-वक़्क़ास (रज़ि.) थे। एक दिन उन्होंने फ़ैसलाकुन जंग का इरादा किया। जिस दिन उन्होंने फ़ैसलाकुन जंग का इरादा किया उस दिन हज़रत ख़न्सा (रज़ि.) ने अपने बेटों को जिन लफ़्ज़ों में ख़िताब किया, उनका तर्जमा हम नीचे देते हैं। कितना जोशीला और फ़सीहो-बलीग़ है यह ख़ुत्बा! फ़रमाया—

"मेरे प्यारे बेटो! तुम अपनी ख़ुशी से मुसलमान हुए और अपनी मर्ज़ी से तुमने हिजरत की। क़सम है उस हमेशा रहनेवाले ख़ुदा की जिसके सिवा कोई माबूद नहीं! जिस तरह तुम अपनी एक माँ के पेट से पैदा हुए उसी तरह तुम अपने एक ही बाप के सगे बेटे हो। मैंने तुम्हारे बाप से बेईमानी नहीं की और न तुम्हारे मामू को रुसवा किया। तुम्हारा लक़ब बेदाग़ है और तुम्हारे

ख़ानदान में कोई ऐब नहीं है।

ऐ बेटो! तुम जानते हो कि मुसलमानों के लिए अल्लाह की तरफ़ से जिहाद करने का बड़ा सवाब है। तुम इसको अच्छी तरह जान लो और ख़ूब समझ लो कि हमेशा रहनेवाली आख़िरत के मुक़ाबले में यह मिट जानेवाली दुनिया कुछ भी तो नहीं। ख़ुदा सूरा आले इमरान (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-200) में फ़रमाता है—

> 'मुसलमानो! उन तकलीफ़ों को जो अल्लाह की राह में तुमको पेश आएँ बरदाश्त करो और एक-दूसरे को सब्र की नसीहत करो और आपस में मिलकर रहो और अल्लाह से डरो ताकि (आख़िरत में) अपनी मुराद को पहुँचो।'

तो ऐ बेटो! जब तुम देखो कि घमासान का रन पड़ा है और जंग के शोले भड़कने लगे हैं और उसके अंगारे लड़ाई के मैदान में बिखर गए हैं तो दुश्मन की फ़ौजों में घुस जाओ और बेदरीग़ तलवार चलाओ और अल्लाह से मदद और कामयाबी की दुआ करते रहो। अल्लाह ने चाहा तो आख़िरत के दिन इज़्ज़त पाओगे और कामयाब होगे।''

हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) के चारों बेटे अपनी माँ की नसीहत के मुताबिक़ जोश में भरे हुए दुश्मनों के लश्कर पर हमलावर हुए। लड़ाई पूरे शबाब पर थी। वे दुश्मन की फ़ौज में घुस गए। बहुत देर तक बहादुरी के साथ लड़ते रहे। आख़िर एक-एक करके शहीद हो गए। उनकी शहादत की ख़बर हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) ने सुनी तो कहा—

''ख़ुदा का शुक्र है कि उसने मेरे बेटों को शहादत का दर्जा अता फ़रमाया। मुझे अल्लाह की रहमत से उम्मीद है कि मैं अपने बच्चों से अल्लाह की रहमत के साए में मुलाक़ात करूँगी!'' और फिर सब्र इख़्तियार फ़रमाया।

यह वही ख़न्सा (रज़ि॰) हैं जो अपने भाई की वफ़ात पर दीवानी हो रही थीं और अब अपने जिगर-गोशों की मौत पर फ़ख़्र का इज़हार कर रही हैं। इस्लाम की तालीम और ईमान के तक़ाज़ों ने क्या-से-क्या बना दिया हज़रत ख़न्सा (रज़ि॰) को!

□□